

धर्मायण

धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय
चेतना की पत्रिका

अंक : ६१

मास : चैत्र-ज्येष्ठ

विक्रमाब्द : २०६०

अप्रैल-जून, २००३ ई०

सम्पादकमण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

महन्त उद्धवदासजी

डा० श्रीरंजन सूरिदेव

प्रधान-सम्पादक

प्रो० काशीनाथ मिश्र

सह-सम्पादक

मार्कण्डेय शारदेय

महावीर मन्दिर प्रकाशन

के लिए

प्रो० काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

सर्चलाइट प्रेस में मुद्रित

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-८००००९

मूल्य : सात रुपये

धर्मायण

विषयसूची

❖ सम्पादकीय	:		२
❖ हर हर महादेव	:	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	६
❖ लोकप्रचलित सत्यनारायण- कथा : आधाराञ्चक्षण	:	आचार्य किशोर कुणाल	१३
❖ गोपी-तत्त्व-मीमांसा	:	कैलाश त्रिपाठी	१७
❖ मनु की दृष्टि में नारी	:	विद्यावाचस्पति डा. श्रीरंजन सूरिदेव	२०
❖ धर्म और श्रीराम	:	दामोदर दत्त मिश्र 'प्रसून'	२३
❖ ऋषि-संस्कृति और कृषि-संस्कृति	:	प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह	३१
❖ सत्य की अवधारणा	:	आचार्य सारंगधर	३६
❖ हिन्दू धर्म: महात्मा गांधी के विचार-दर्शन	:	डा० एस०एन०पी० सिन्हा	४४
❖ विश्वधर्म के प्रवर्तक: सर्वपल्ली राधाकृष्णन	:	रामधारी सिंह 'दिनकर'	४६
❖ धर्म और धर्म-परिवर्तन	:	डा० रामजी सिंह	५५
❖ योगवासिष्ठ और मुसलमान	:	प्रताप कुमार मिश्र	५६
❖ बुद्धचरित और यशोधरा	:	डी० आर० ब्रह्मचारी	६५
❖ बालविवाह : न धर्मसम्मत, न विधिसम्मत	:	कृष्णानन्द	६८
❖ लोकसाहित्य के विविध आयाम	:	डा. वीरेन्द्र कुमार वसु	७२
❖ भारतीय स्वातन्त्र्य-समर की अप्रतिम वीरांगनाः दुर्गा भाभी	:	परमानन्द दोषी	७५
❖ पाठकीय प्रतिक्रिया	:		७६
❖ व्रत-त्योहार	:		८०

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

❖ सम्पादकीय ❖

ऋग्वेद में आया है- “भद्रं नो अपि वातय मनः।” अर्थात् हे अग्निदेव! हमारे मन को शुभ यानी अपने योग्य करो।

सच है, मन यदि शुभानुप्राणित रहेगा तो तन स्वतः हो जाएगा। असल में तन का राजा मन है और सभी इन्द्रियाँ तदकूल ही आचरण करती हैं। इसीलिए गीता के विभूतियोग में भगवान् ने कहा है- ‘इन्द्रियाणां मनश्चास्मि’ अर्थात् मैं इन्द्रियों में मन हूँ।

सम्पूर्ण दृश्यादृश्य जगत् के नियन्ता भगवान् ही हैं। उनकी इच्छा के विपरीत कोई कुछ नहीं कर सकता। वे अंशी हैं और अंश रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं- ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। वस्तुतः वे ही व्याप्य, व्यापक और व्याप्त हैं; वे ही साध्य, साधक और सिद्ध हैं। फिर उनके अतिरिक्त और है ही कौन? इसीलिए शरीर से सम्बद्ध पदार्थ भगवदात्मक माने गए हैं-

इन्द्रियाणि मनोबुद्धः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः।

वासुदेवात्मकमाहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च।।

(विष्णु-सहस्रनाम-स्तोत्रः १३६)

मन करण और कारण दोनों हैं। जैसे अगोचरावस्था में ईश्वर सूक्ष्म हैं वैसे ही मन भी सूक्ष्म है- अणुपरिमाणं हृदयान्तर्वर्ति (मन अणुमात्र है और हृदय-प्रदेश में रहता है।- तर्कभाषा) जैसे परमात्मा को नित्य माना गया है वैसे ही मन को भी नित्य माना गया है- अन्तरिन्द्रियं सुखाद्युपलब्धिकरणं नित्यञ्च (तर्कभाषा)। जहाँ पंच बह्नीन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) आँख, कान, नाक, जीभ एवं त्वचा तथा पंच कर्मेन्द्रियाँ वाणी, हाथ, पाँव, गुदा एवं लिंग दृश्य हैं, वहाँ मन अदृश्य है। इसी कारण दसों को बाह्यकरण कहते हैं।

मन अदृश्य है इसलिए अन्तःकरण है।

मन स्वानुसार सभी इन्द्रियों से काम करता रहता है। यह चुप बैठे तो बाह्येन्द्रियाँ सुस्त पड़ जायँ; ठीक वैसे ही जैसे परमात्मा शान्त पड़ जाए तो यह दुनिया चित्रवत् ज्यों-का-त्यों पड़ जाए।

जैसे नाट्यनिर्देशक के निर्देशानुसार प्रत्येक पात्र अपनी भूमिका का निर्वाह करता है, वैसे ही अन्य इन्द्रियाँ मनोनुकूल आचरण करती हैं। यदि मन कुकृत्य की ओर जाने लगे तो अन्य इन्द्रियाँ सुकृत्य की ओर जाकर भी नहीं जा सकती हैं। उसी तरह यदि मन सुकृत्य की ओर प्रवृत्त हो तो इन्द्रियाँ कुकृत्य में प्रवृत्ति नहीं रख सकतीं। इस तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मनोगत हैं। मन चाहे तो मनुष्य को मोक्षमार्ग पर ले चले और वह चाहे तो भोगमार्ग का यात्री बनाए। मानना मन का काम है। यह संकल्प-विकल्पमय होने के कारण पेंडुलम की तरह हिलता है। जब यह स्थिर हो जाए तब संकल्पशक्ति के कारण कार्य की सफलता की आशा बढ़ जाती है। इसी लिए कहा गया है-“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।”

यह मन जब विषयसंगी बनेगा तब बन्धन का कारण होगा और यदि विषयों से विरक्त रहेगा तो मोक्षकारक होगा-

“बन्धाय विषयासंगि भुक्त्यैर्निर्विषयं मनः।”

विषयासक्ति के कारण ही मनुष्य मोह-माया के पिंजर में बन्दहोकर अपना उद्देश्य भूल जाता है और पतन को प्राप्त होता है। जब यह मन उत्थानोन्मुख होता है तब यह आत्मज्ञान के साधनभूत यम, नियम आदि अपनाकर योजक एवं युज्य बनकर ब्रह्म से युक्त हो जाता है। जिस

शरीर का मन ऐसा कर पाता है, उस व्यक्ति को योगी कहा जाता है। मन ज्योंही योग-रूपी लौहवृत्ति के अपनाता है, त्योंही परमात्मा चुम्बकवृत्ति अपनाकर उसे खींच लेता है। जब दोनों एक दूसरे से जुड़ जाते हैं तब ऐसी क्रिया योग कहलाती है।

मन के साथ परमात्मा का जुड़ाव होने पर सांसारिक वस्तुएँ धरी-की-धरी रह जाएँगी। आकर्षक वस्तुएँ भी आकृष्ट नहीं कर सकेंगी। जब मन परमात्मरति में लीन रहेगा तब ऐहलौकिक रति नीरस ही तो लगेगी! इसीलिए योगीजन संसार के सुख-दुःख से अलग हो जाते हैं और अपने मन को मधुमती भूमिका में पहुँचा देते हैं तथा समस्त सुखों को स्वतः आगत देखकर भी चिन्त्य के चिन्तन में ही रत रहते हैं।

योग मन की देन है—“योगश्चित्तवृत्ति-विरोधः”। चित्तवृत्ति सांसारिकता की सारण है। मनुष्य का मन जब अधोगमन करता है तब इन्द्रियों के माध्यम से दृश्य, श्रव्य, श्रेय, आस्वाद्य, स्पृश्य, बाच्य, कार्य, गम्य, उत्सर्ज्य एवं रम्य विषयों में प्रवृत्त होकर दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्श, वदन, करण, गमन, उत्सर्जन एवं रमण आदि कार्यों में सहभागी बनता है।

चूँकि योगी ब्रह्म से युक्त रहता है इसीलिए उसका मन इतना दृढ़ होता है कि उसे ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त और कहीं जाने की इच्छा ही नहीं रहती। योगी को बाह्याडम्बर से कभी नहीं लगाव होता, वह तो मन को ही परमात्मा में रँगकर परमात्ममय हो जाता है। जो वेष-भूषा पर ध्यान देते हैं, वे योगी हो नहीं सकते, क्योंकि मन योगी होता है तन नहीं। इसीलिए कबीरदास ने तन को योगी बनानेवालों पर व्यंग्यबाण चलाते हुए कहा है—“मन न रँगायो रँगायो जोगी कपरा।”

कठोपनिषद् में एक सुन्दर रूपक आया है। तदनुसार जीवात्मा रथी (सवार) है। बुद्धि सारथि

है। मन लगाम है। तन रथ है। इन्द्रियाँ घोड़े हैं। विषय मार्ग हैं। सम्बद्ध श्लोक इस प्रकार है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

(प्रथम-अध्याय तृतीयवल्गो)

इस रूपक को जीवात्मादि और इन्द्रियादि क्रम से भी रखा जा सकता है, पर अर्थ में वैपरीत्य आ जायगा। जब जीवात्मा की प्रधानता होगी तब जीवात्मा के बाद बुद्धि, बुद्धि के बाद मन, मन के बाद शरीर और शरीर के बाद इन्द्रियाँ होंगी। यदि इन्द्रियों की प्रधानता होगी तो इन्द्रियों के बाद शरीर, शरीर के बाद मन, मन के बाद बुद्धि और बुद्धि के बाद जीवात्मा का स्थान होगा।

जब जीवात्मा की प्रधानता होगी तब बुद्धि उसके अधीन रहेगी। बुद्धि सारथि है, अतः जीवात्मा के आदेश को स्वामिभक्त सेवक की भाँति स्वीकार करेगी। इसके लिए उसे रथी के आदेशानुसार गन्तव्य तक जाने के लिए मन-रूपी लगाम को कसकर पकड़ना होगा, ताकि इन्द्रिय-रूपी घोड़े बुद्धि के कार्य को सम्पादित कर सकें।

मन लगाम है, अतः उसकी ढील पर इन्द्रियाँ मनमानी करेंगी। आखिर वे घोड़े ही तो हैं। पशु को मिली स्वतन्त्रता उच्छृंखलता ही तो फैलायगी। जब लगाम कसा रहेगा तब इन्द्रियों का कुछ नहीं चलेगा और जीवात्मा परमात्मा से जा मिलेगी। इस तरह यह मोक्षमार्ग की यात्रा हो जायगी और बिन्दु सिन्धु में जाकर सिन्धु हो जायगा—

“इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरौ। दोनों मिलिगे एक बरन भइ सुरसरि नाम पर्यौ।”

दूसरी ओर जब इन्द्रियों की प्रधानता होगी तब जीवात्मा भोग के दलदल में फँसेगा। भले रथ पर बैठने के कारण वह सुरक्षित बचे, पर जब रथ

ही दलदल में है तब रथी की यात्रा कैसे होगी? जल कमलपत्र को आर्द्र भले न करे पर प्रभावित तो करेगा ही। इस क्रम में जीवात्मा का स्थान पाँचवाँ होगा। इस कारण वह लाचार हो जाएगा। इन्द्रियों का प्रिय लौकिक सुख है। वे अपने रथ (शरीर) को खींचकर प्रेय की ओर ले जाएँगी। यहाँ तक कि जिस इन्द्रिय को जब जो प्रिय लगेगा, वह उधर ही ले जाएगी। कभी-कभी तो उनकी खींच-तान में रथ के परखचे भी उड़ जाते हैं।

तब इन्द्रियों के स्वराज्य में मन भी मित्र बन जाता है, क्योंकि यह उनका सबसे करीबी है। उस समय मन-रूपी लगाम कमलनाल तो नहीं पर रब्बर की रस्सी अवश्य बन जाता है, जिससे घोड़े स्वेच्छानुसार तान या सिकुड़ा लेते हैं। ऐसी दशा में बुद्धि भारी जाती है। सारथि के स्थान पर उसका बैठना मात्र एक पुतले को रास पकड़ा देने के समान लगता है। यदि उसमें कुछ चैतन्य भी दिखाई देता है तो मात्र उतना ही जितना कि मतवाले में होता है। वह घोड़ों पर कोड़े बरसाकर भी सुमार्ग पर नहीं लाने लायक रह पाती है। तब भला ऐसी बुद्धि जीवात्मा को गन्तव्य तक कैसे ले जा सकती है। फिर सवारजी महाराज भी तो बिना कहे रथ पर कूद बैठे पागल की तरह हैं।

पंचविध कोशों को देखा जाए तो मन मध्यस्थ है। पंचकोशों का क्रम है— अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश एवं आनन्दमयकोश। ये पाँचों क्रमशः इन्द्रिय, शरीर, मन, बुद्धि एवं जीवात्मा के ही द्योतक हैं। यह क्रम आरोह का है। इस क्रम से भी योग की प्राप्ति हो जाती है, पर इन्द्रियनिग्रह एवं दम (मनसो दमनं दमः) के बिना सम्भव नहीं है। इसके लिए अभ्यास एवं वैराग्य की भी अत्यन्त आवश्यकता होती है— “अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।”

इन द्विविध उपायों से मन को जीतकर ही बुद्धि भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम आदि के

श्रवण, कीर्तन, मनन-रूपी मार्ग पर रथ दौड़ाकर परमात्मप्राप्ति में जीवात्मा का सहयोगी बन सकती है।

कठोपनिषद् के उक्त रूपक में पहले आत्मा (जीवात्मा) का स्थान है, उसके बाद शरीर का। वहाँ शरीरी के बाद शरीर को रखा गया है, जो क्रमानुसार न होकर सम्बन्धानुकूल है। इसी तरह बुद्धि (सारथि) के साथ मन (प्रग्रह) को रखा गया है। पुनः मन (प्रग्रह) के बाद इन्द्रियों को और उसके बाद उनके चरागाह या विषय-रूपी मार्ग का स्थापन है।

क्रमानुसार मन सदैव मध्यस्थ है और मध्यस्थ सदा जोड़ने का काम करता है। मन मान जाय तो मोक्ष करामलक हो जाय; नहीं तो जीवात्मा को बार-बार तन धारण करना पड़ेगा, भवसागर में डुबकी लगानी पड़ेगी— “अब की पासा ना फिरे तो फिर चौरासी जाओ।” चौरासी लाख तरह के प्राणियों का रूप धरते जाइय और जन्म-मरण को गले लगाते चलिग। आखिर स्वामी के आदेश का उल्लंघन है, दण्ड तो मिलेगा ही। परमात्मा ने अपनी बनाई दुनिया देख आने और आवश्यकतानुसार किसी-किसी कार्य को सुधार आने को भेजा है। इस दुनियाबी रंग में रँग जाने को नहीं। जब स्वामी के प्रतिकूल सेवक चलेगा तब परिणाम तो तदनुकूल ही न होगा।

पुनः जहाँ अन्य इन्द्रियाँ वर्तमान को ही ग्रहण करती हैं वहीं मन, भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों का ग्राहक है। जाग्रतावस्था में तो जीवों को चक्कर कटाता ही है, स्वप्नावस्था में भी कहाँ-का-कहाँ पहुँचा देता है। यह प्रवृत्ति का आधार है इसीलिए विज्ञानी उत्तम कार्य (ब्रह्मज्ञान) साधते हैं और अज्ञानी सांसारिक। यह प्राणियों के वर्तमान का प्रकाशक तो है ही पर सामान्य-विशेष ज्ञान में अन्दर भी करनेवाला है। यह मुक्ति पर्यन्त तन के संग रहनेवाला सहचर है। वस्त्र में धागों के समान और रथ के चक्के के आरे के समान शब्दों का भी

आधार यही है। इसीलिए इसमें वेदत्रय की स्थिति भी मानी जाती है।

मन साम्यावस्था में रहता है, इसलिये इसमें शैशव, बाल्य, कैशोर्य, प्रौढ़ता या बादर्धक्य नहीं होता। इसका निवास हृदय है। यह वहीं से सबपर शासन करता रहता है। यह ऐसा शासक नहीं जो आदेश भर देना जानता हो। यह तत्परतापूर्वक अपने निरीक्षण में कार्य करता है।

मनोनिग्रह के बिना जीवन में शान्ति सुलभ नहीं हो सकती— “शमश्चित्तप्रधानता”। इसके बिना ज्ञान बोझ हो जायगा और जैसे हाथी स्नान करने के बाद अपने ऊपर धूल छिड़क लेता है वैसे ही ज्ञानपूत होकर भी तदनुकूल आचरण के अभाव में वैयक्तिक कार्य निरर्थक सिद्ध होता है। यही मोह है और जैसे बन्दरिया अपने मरे बच्चे को हृदय से चिपकाए रहती है वैसे ही बड़े-बड़े ज्ञानी भी मनोनिग्रह के अभाव में अज्ञानियों का-सा आचरण करने लगते हैं।

जैसे हम धन-धान्य, आयु-आरोग्य, मोक्ष आदि की प्राप्ति एवं समस्त दुरितों के निवारण के लिये पूजा-पाठ, योग-जप करते हैं, वैसे ही मन की एकाग्रता के लिये अग्निपुराण में यजुर्विधान के अन्तर्गत शिव-संकल्प-सूक्त के जप का विधान है। मनोनिग्रह को प्रधानता देकर ही सम्भवः ‘रुद्राध्यायी’ में इसे प्रथम अध्याय में ही निबद्ध किया गया है। याज्ञवल्क्य ऋषि ने उक्त सूक्त में मन की विशेषताओं का वर्णन करते हुए अपने मन से शुभ संकल्पशील होने की बार-बार प्रार्थना की है— “तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।”

मन के वैषम्य के कारण ही लोक में दुरावों एवं विवादों का जन्म होता है और कभी तिरस्र या तैतीस के सम्बन्ध रखनेवाले लोग भी छत्तीस का सम्बन्ध पाल लेते हैं। यह स्थिति घातक होती है, इसीलिए ऋग्वेद (संज्ञान सूक्तः १०.१६१) में सं वो मनांसि जानताम् (तुमलोगों का मन

एक मत हो ज्ञान प्राप्त करे), समानं मनः (तुमलोगों का मन परस्पर समानता रखे), सह चित्तमेषाम् (इनके— तुमलोगों के चित्त में, विचारों में एकरूपता आए)। समानमस्तु वो मनः (तुमलोगों का मन समान हो)-जैसे अंशो में पारस्परिक सौहार्द के लिये मन के मिलान पर जोर दिया गया है।

वास्तव में मन राजा है। उसमें जितनी गुणवत्ता है उतनी ही दोषवत्ता भी। अच्छाई इसी की देन है और बुराई भी। यह सर्वव्याप्त और सर्वमय है, इसीलिए तेजोबिन्दु-उपनिषद् में इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा गया है कि मन ही सम्पूर्ण संसार है, मन ही महान् शत्रु है तथा मन ही तीनों लोक है। पुनः महादुःख, बुढ़ापा, काल, मल, संकल्प, जीव, चित्त, अहंकार, बन्धन, अन्तःकरण, भूतपंचक, पदार्थसप्तक, अवस्थात्रय, दिक्पाल, वसु, रुद्र, आदित्य आदि सब कुछ मन ही है (अध्यायः ५.६८-१०५)।

भक्ति में समर्पण की प्रधानता है और मन के समर्पण से बढ़कर कुछ हो भी नहीं सकता है। अतः चाहे जैसा हो, अपने मन को अर्पित करते हुए हमें रहीम के शब्दों में भगवान् से निवेदन करना चाहिए—

रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागृहीतमनसे मनसे च तुभ्यं
दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण।।

अर्थात् हे भगवान्! आपका निवास रत्नों का आकर (क्षीरसागर) है, आपकी पत्नी स्वयं लक्ष्मी हैं; फिर आप-जैसे संसार के स्वामी को देने के लिये मुझ गरीब के पास है ही क्या? हाँ, एक वस्तु है, जो आपके पास नहीं है; उसे राधाजी ने चुरा लिया है। वह है आपका मन। अतः मैं अपना मन समर्पित करता हूँ, इसे ग्रहण करें।



हर हर महादेव

□ आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

बेद, पुराण आदिमें भगवान् शंकर

सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में भगवान् शंकर का रूप वर्णन करते हुए उनका रंग भूरा (वभ्रु), शरीर सूर्य के समान तेजस्वी और जाज्वल्यमान स्वर्ण के समान चमचमाता हुआ, जटाधारी, सहस्र नेत्रोंवाला, नीले रंग की ग्रीवावाला और नीले बालोंवाला बताया गया है। अथर्ववेद में उनके उदर का रंग काला और पीठ का रंग लाल बताया गया है। यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के अनुसार समुद्र से निकला हुआ हलाहल पी लेने के कारण इनका गला नीला हो गया जिससे ये नीलकण्ठ और श्रीकण्ठ कहे जाने लगे, परन्तु महाभारत के अनुशासनपर्व के अनुसार इन्द्र का वज्र लगने से इनका कण्ठ नीला हो गया था।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में इन्हें चतुर्मुख बताया गया है। मत्स्यपुराण में ये अर्धनारीश्वर और तीन वर्णोंवाले बताए गए हैं।

निवास-स्थान

यजुर्वेद की वाजसनेय-संहिता के अनुसार शिवजी पर्वतों में और मुञ्जवत् या मूजवत् पर्वत पर रहते हैं। महाभारत के आश्वलायनपर्व के अनुसार वे मुञ्जवान् या मूजवान् पर्वत पर ही निवास करते हैं जो कैलाश के उस पार है। महाभारत के अनुशासनपर्व में कहा गया है कि भगवान् शंकर मेरु पर्वत पर रहते हैं जिसके कारण ही इनका नाम मेरुधामा पड़ गया है। विष्णुपुराण के अनुसार हिमालय और मेरुपर्वत एक ही हैं। कृष्णद्वैपायन व्यास और कुबेर ने मेरु पर्वत पर ही शिव की उपासना की थी। महाभारत के भीष्मपर्व और ब्रह्मपुराण के अनुसार ये कैलास और हिमालय

पर्वत पर ही रहते हैं किन्तु महाभारत के अनुशासन पर्व के अनुसार इनका अत्यन्त प्रिय निवास-स्थान काशी का महाशमशान है।

तपोभूमि

महाभारत के आश्वलायनपर्व के अनुसार शिवजी हिमालय के मुञ्जवत् शिखर पर वृक्षों के तले, पर्वत के शिखरों पर या गुफाओं में अदृश्य रूप से पार्वतीजी के साथ तपस्या करते रहते हैं। देवता, गन्धर्व, अप्सरा, देव, ऋषि, यातुधान, राक्षस और कुबेर आदि इनके सभी उपासक अनेक प्रकार के विचित्र-विचित्र रूप बनाकर रुद्रगण नाम से वहीं रहते हैं।

वाहन और ध्वज

महाभारत के अनुशासनपर्व के अनुसार प्रजापति ने शिवजी के साथ अपनी पुत्री सती का विवाह करते समय सवारी के लिये इन्हें नन्दिकेश्वर नाम का बड़ा भारी बैल दे दिया था जिसे इन्होंने अपने ध्वज का चिह्न भी बना रखा है। इसी कारण इन्हें वृषभध्वज भी कहते हैं।

आयुध और अस्त्र-शस्त्र

ऋग्वेद विद्युत्शर (बिजली का तीर) ही इनका प्रमुख अस्त्र बताया गया है जिसे जब ये फेंककर चलाते हैं तब पृथ्वी में दरारें पड़ जाती हैं। ऋग्वेद के अनुसार धनुष-बाण और वज्र भी इनके प्रसिद्ध अस्त्र बताए गए हैं। इन अस्त्रों के अतिरिक्त शिवजी के अस्त्र-शस्त्रों में शूल, वज्र, खड्ग और परशु तो दाहिने हाथ में और नाग, पाश, घण्टा और उमरु बाएँ हाथ में बताए गए हैं। उनका रंग स्फटिक या कपूर के समान बहुत गौरा बताया

गया है। ऋग्वेद में इन्हें जलाप (रोग दूर करनेवाला) और जलाप-भेषज (रोग दूर करनेवाली औषधियोंवाला) कहा गया है। इतना ही नहीं, वहीं यह भी बताया गया है कि ये बहुत ही अच्छे चिकित्सक हैं और इनके पास सहस्रों एक-से-एक बढ़कर औषधियाँ हैं। इनके निवास-स्थान हिमालय की राधानी औषधिप्रस्थ (जड़ी-बूटियों से भरा हुआ स्थान) है। प्रसन्न हो जानेपर शिवजी मानवों का भी कल्याण करते हैं और पशुओं का भी। इसलिए इन्हें शिव और पशुप या पशुपति भी कहते हैं।

रुद्र के दो रूप

यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय में रुद्र के स्वभाव का बहुत अधिक विस्तृत और स्पष्ट चित्रण मिलता है। तैत्तिरीय-संहिता में इन्हें रुद्रतनु और शिवतनु कहकर बताया गया है कि रुद्र के घोर और शिव दो रूप हैं जिन में से पहला घोर रूप तो दुःख और मृत्यु दूर करने तथा धन, पुत्र और स्वर्ग देनेवाला है तथा दूसरा शिवरूप आत्मज्ञान और मोक्ष प्रदान करनेवाला है।

यजुर्वेद-संहिता में इन्हें गिरीश और गिरित्र (पर्वतों में रहनेवाला) बताया गया है। साथ ही इन्हें जंगलों तथा जंगली पशुओं, चोरों, डाकुओं और अंत्यजों का स्वामी भी बताया गया है। यजुर्वेद में ही इन्हें कपर्दी (जटाधारी), शर्व (धनुष-बाण धारण करनेवाला), भव (सारे चर और अचर जीवों में रमा रहनेवाला), शम्भु (संसार का कल्याण करनेवाला), शिव (पवित्र) और कृत्तिवास (हाथी की खाल ओढ़े रहनेवाला) बताया गया है।

त्रिपुर-हर

तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार इन्होंने असुरों के दीन नगर नष्ट कर डाले थे इसीलिये इन्हें त्रिपुरारि कहते हैं। यजुर्वेद में बताया गया है कि इनके बहुत से रुद्रगण हैं और ये जंगलों में रहनेवाले निषादों और जंगली जातियों के स्वामी और राजा हैं।

अथर्ववेद में रुद्र के जो सात नाम बताए गए हैं उन सातों को अलग-अलग देवता माना गया है—

(१) ईशान

ये पूरे मध्यम लोक के सबसे बड़े स्वामी हैं।

(२) भव

अथर्ववेद के अनुसार ये मध्यम लोक के पूर्व भाग के राजा, पतित तथा नीच लोगों के संरक्षक और बहुत बड़े धनुर्धर हैं। ये और शर्व दोनों मिलकर दुष्ट लोगों पर बराबर बिजली के बाण छोड़ते रहते हैं। सहस्र नेत्र (अनगिनत आँखें) होने के कारण ये पृथ्वी की प्रत्येक वस्तु को भली भाँति देख सकते हैं। ये आकाश, पृथ्वी और अंतरिक्ष के स्वामी हैं।

(३) शर्व

ये अत्यन्त श्रेष्ठ धनुर्धर और मध्यम लोक के दक्षिण भाग के स्वामी हैं। अथर्ववेद में इन्हीं और भव को भूतपति और पशुपति कहा गया है।

(४) पशुपति

अथर्ववेद के अनुसार ये मध्यम लोक के पश्चिम विभाग के स्वामी हैं और अश्व, मनुष्य, बकरी, मेंढक और गौओं पर शासन करते तथा उनको रक्षा करते हैं।

(५) उग्र

अथर्ववेद के अनुसार ये भयंकर देवता मध्यम-लोक के उत्तर विभाग के स्वामी हैं। और आकाश, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष के सारे जीवों पर शासन करते हैं।

(६) रुद्र

अथर्ववेद के अनुसार ये कनिष्ठ लोक के स्वामी हैं। ये अग्नि, जल और वनस्पतियों में रमे रते हैं और पृथ्वी के साथ-साथ चन्द्रमा और ग्रह-मंडल पर भी नियंत्रण करते हैं, इसलिये इन्हें ईशान (राजा) बताया गया है। रोग, विषैले पदार्थ और अग्नि फैलाने की इनमें प्रचण्ड शक्ति है।

(७) महादेव

ये उच्च लोक के स्वामी हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में रुद्र को उषस् का पुत्र बताया गया है जिनका जन्म होने पर प्रजापति ने उन्हें जो आठ नाम दिए उनमें से सात नाम तो यजुर्वेद की नामावली में मिलते हैं, आठवाँ नाम अशनि (उल्कापात) दिया गया है। इनमें से रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि तो संहारक रूप हैं तथा भव, पशुपति, महादेव और ईशान शान्त और संसार के पालनेवाले रूप हैं।

रुद्रक प्रादुर्भाव

ब्राह्मण-ग्रन्थों में कथा आई है कि जब प्रजापति ने अपनी पुत्री पर कुट्टुष्टि डाली तब प्रजापति को दण्ड देने के लिये रुद्र का आविर्भाव हुआ। जब प्रजापति इनसे उरकर मृग का रूप धारण करके भागने लगे तब रुद्र ने पशुपति या मृगव्याध का रूप बनाकर प्रजापति का वध किया था।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र शिव को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ देवता बताते हुए कहा गया है कि रुद्र, शिव, ईशान और महेश्वर ही सृष्टि के अधिष्ठाता देवता हैं। इनकी उपासना करने और इनका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो पाता है। इस उपनिषद् में रुद्र को सृष्टि का नियामक और संहारक देवता बताते हुए कहा गया है कि ये गूढ, सर्वव्यापी और सबके शासक हैं। केवल इन्हीं का ज्ञान हो जाने से मोक्ष मिल जाता है। इसी उपनिषद् में इन्हें विश्वमाया या प्रकृति का शास्ता भी बताया गया है।

केन उपनिषद् में शिव की पत्नी उमा का निर्देश तो प्राप्त होता है किन्तु शिव की पत्नी के रूप में न होकर उनकी सांगिनी के रूप में बताया गया है। जब अग्नि और वायु वहाँ यक्ष के रखे हुए तिनके को न जला सके, न उड़ा सके तब हैमवती उमा ने प्रकट होकर इन्द्र को ब्रह्मस्वरूप रुद्र शिव का माहात्म्य समझाया था।

गृह्यसूत्रों में रुद्र

गृह्यसूत्रों में शूलगव नामक यज्ञ के प्रसंग में रुद्र के बारह नाम गिनाए गए हैं—

रुद्र, शर्व, उग्र, भव, पशुपति, महादेव, ईशान, हर, मृड, शिव, भीम और शंकर। इनमें से पहले तीन नाम तो संहारक रुद्र के, उसके पश्चात् के चार नाम प्रतिपालक रुद्र के और अन्तिम पाँच नाम नये हैं। इन्हीं गृह्यसूत्रों में विशेषतः पारस्कर गृह्यसूत्र में बताया गया है कि पर्वत, नदी, जंगल और श्मशान आदि से चलते समय किस प्रकार रुद्र की उपासना करनी चाहिए।

महाभारत में शिव और महादेव नाम से रुद्र का वर्णन करते हुए उसकी पत्नियों के उमा, पार्वती, दुर्गा और कराली आदि नाम बताए गए हैं पर ये सब पार्वती के ही विभिन्न रूप और पर्याय हैं। इनके पार्षदों को शिव का गण कहा गया है।

शिव की तपस्या

सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा की आज्ञा से शिव ही सृष्टि करने लगे थे। जब ब्रह्मा ने उन्हें सृष्टि करने से रोक दिया तब वे जल में जा छिपे। उधर ब्रह्मा ने एक दूसरा प्रजापति बनाकर उसे सृष्टि का काम सौंप दिया। जब जल से बाहर निकलकर शिव ने देखा कि सृष्टि तो होती चली जा रही है तब इन्होंने अपनी लिंग काट गिराया और स्वयं मुञ्जवत् पर्वत पर तपस्या करने चले गए।

वायुपुराण के अनुसार जब ब्रह्मा ने नीललोहित (महादेव) को सृष्टि करने का आदेश दिया तब उन्होंने मन-ही-मन अपनी पत्नी सती का स्मरण करके अनगिनत बेढंगे रूपोंवाले एक-से-एक भयानक प्राणी उत्पन्न कर डाले। यह देखकर जब ब्रह्मा ने इन्हें सृष्टि करने से रोक दिया तब ये मुञ्जवत् पर्वत पर जाकर पाशुपत योग करते हुए रहने लगे।

नाम और परिचार

पुराणों में जो आठ रुद्रों के नाम दिए गए हैं वे शतपथब्राह्मण में आए हुए नामों से मिलते हैं। इन ग्रन्थों के अनुसार जब ब्रह्मा से उत्पन्न होकर ये इधर-उधर भटकने लगे तब ब्रह्मा ने आठ विभिन्न नाम और स्थान प्रदान कर दिए। विष्णु, मार्कण्डेय, वायु और स्कन्द पुराणों में अष्टमूर्ति महादेव के ये आठों नाम प्राप्त हैं। इन पुराणों में रुद्र के नाम, उनकी पत्नियों, सन्तानों और निवास-स्थानों का निम्नांकित परिचय मिलता है—

रुद्र का नाम	पत्नी	सन्तान	नीवास-स्थान
रुद्र	सुवर्चला या सती	शनैश्चर	सूर्य
भव	उमा (उषा)	शुक	जल
शर्व (शिव)	विकेशी	मंगल	मही
पशुपति	शिवा	मनोजव	वायु
भीम	स्वाहा (स्वथा)	स्कन्द	अग्नि
ईशान	दिशा	स्वर्ग	आकाश
उग्र	दीक्षा	सन्तान	यक्षीय ब्राह्मण
महादेव	रोहिणी	बुध	चन्द्र

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में रुद्र के निम्नांकित निवास-स्थानों को ही अष्टमूर्ति कहा गया है— जल, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, आकाश, वायु, पृथ्वी और यज्ञकर्त्ता।

महाभारत और पुराणों में बताया गया है कि ब्रह्मा के शरीर से एक ही आद्यरुद्र उत्पन्न हुए जिन से एकादश रुद्रों की उत्पत्ति हुई। विभिन्न ग्रन्थों में उनके निम्नांकित नाम मिलते हैं।—

(१) महाभारत— मृगव्याध, शर्व, निर्रथि, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकिन्, दहन, ईश्वर, कपालिन्, स्थाणु एवं भव।

(२) स्कन्दपुराण में— भूतेश, नीलरुद्र, कपालिन्, बृषवानह, त्र्यंबक, महाकाल, भैरव, मृत्युंजय, कामेश एवं येगेश।

भागवत में ग्यारह रुद्रों, उनकी पत्नियों

और निवास-स्थानों के निम्नांकित नाम मिलते हैं—

रुद्र का नाम	पत्नी	नीवास-स्थान
मन्यु	धी	हृदय
मनु	वृत्ति	इन्द्रिय
महिनस् (सोम)	उशना	असु
महत्	उमा	व्योम
शिव	नियुता	वायु
ऋतध्वज	सर्पि	अग्नि
उग्ररेतस्	इला	जल
भव	अम्बिका	मही
काल	इरावती	सूर्य
वामदेव	सुधा	चन्द्र
धृतध्वज	दीक्षा	तप

विभिन्न पुराणों में ग्यारह रुद्रों के नाम और उनके पाठ-भेद इस प्रकार हैं—

- (१) अजैकपात्— (अज, एकपात्, अपात्)
- (२) अहिर्बुध्न्य।
- (३) ईश्वर— (सुरेश्वर, विश्वेश्वर, अपराजित, शास्तृ, त्वष्टृ)
- (४) कपालिन्।
- (५) कपर्दिन्।
- (६) त्र्यंबक— (दहन, दमन, उग्र, चण्ड, महातेजस्, विलोहित, हवन)
- (७) बहुरूप— (निन्दित, निर्रथि, महेश्वर)
- (८) पिनाकिन्— (भीम)
- (९) मृगव्याध— (रैवत, परंतप)
- (१०) वृषाकपि— (विरुपाक्ष, भग)
- (११) स्थाणु— (शम्भु, रुद्र, जयन्त, महत्, अयोनिज, हर, भव, शर्व, ऋत, सर्वसंज्ञ, संध्य और सर्प)

शिवजी का प्रादुर्भाव

विष्णुपुराण के अनुसार जब ब्रह्मा के कहने पर प्रजापति के सनक, सनन्दन आदि पुत्रों ने सृष्टि करना अस्वीकार कर दिया तब ब्रह्मा ने क्रोध

कर के उनपर जो अपनी भौंहें टेढ़ी कीं उसी क्रोध की मुद्रा से रुद्र आ प्रकट हुए। पद्मपुराण और भागवत में भी बताया गया है कि ब्रह्मा के क्रोध से रुद्र प्रकट हुए। ब्रह्माण्डपुराण में शिव का आविर्भाव ब्रह्मा के अभिमान से, भविष्यपुराण में ललाट से, मत्स्यपुराण में मन से और स्कन्दपुराण में ब्रह्मा के मस्तक से बताया गया है।

विष्णुपुराण के अनुसार जब सृष्टि करने की चिन्ता में ब्रह्मा बैठे हुए थे, उसी समय एक बालक उनके सामने आ प्रकट हुआ जिसका रंग तो लाल था किन्तु थोड़ी ही देर में नीला हो गया। यही ब्रह्मा के पुत्र रुद्र हैं।

स्कन्दपुराण में विचित्र बात लिखी मिलती है कि शंकर के आशीर्वाद से ही ब्रह्मा के रुद्र नामक पुत्र हुए। हरिवंश, ब्रह्म और शिवपुराण की रुद्रसंहिता के अनुसार कश्यप और अदिति से रुद्रगणों का जन्म हुआ। भागवत के अनुसार भूतकन्या सुरुपा से और विष्णुपुराण के अनुसार प्रभास और बृहस्पति की बहिन से रुद्रगणों का जन्म हुआ। महाभारत में कई स्थानों पर एक रुद्र देवता के बदले ग्यारह रुद्रों का निर्देश मिलता है।

शिव के पराक्रम

शिव ने समय-समय पर जो-जो पराक्रम के काम किए, जो विचित्र लीलाएँ कीं, जो चमत्कार दिखाए उनका विवरण अलग-अलग आगे के अध्यायों में दिया गया है। यहाँ संक्षेप में उनके कुछ इने-गिने पराक्रमों का थोड़ा-सा परिचय दे दिया जा रहा है—

जब भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने गन्धमादन पर्वत पर गंगा को अपने सिर पर ग्रहण कर लेने का वचन दिया तब गंगा के प्रचण्ड वेग को संभालकर इन्होंने अपनी जटाओं में समा लिया।

जब इनके श्वशुर दक्ष ने अपने यज्ञ में इन्हें निमन्त्रित नहीं किया और उस अपमान से

क्रुद्ध होकर शिव की पत्नी सती ने योग की अग्नि में अपना शरीर जला डाला तब इन्होंने अपना वीरभद्र नाम का पार्षद भेजकर दक्ष का सारा यज्ञ उजड़वा डाला था।

जब ब्रह्मा ने शिव का अपमान किया तब इन्होंने अपने दाहिने पाँव के अँगूठे के नख से उनका पाँचवाँ सिर नोच उतारा। इस ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए ही वे काशी में जा रहे थे। शिवपुराण के अनुसार इन्होंने अपने भैरव नामक पार्षद से कहकर ब्रह्मा का पाँचवाँ सिर कटवा उतरवाया था।

पद्मपुराण के अनुसार जब शिव अपने हाथ में कपाल लेकर ब्रह्मा के यज्ञ में पहुँचे तब उनका यह कुडंगा वेश देखकर उन्हें यज्ञमण्डप के द्वार पर ही रोक दिया गया। परन्तु फिर इनके तप का प्रभाव जान लेने पर यज्ञमण्डप में बुलाकर इन्हें ब्रह्मा के उत्तर की ओर ईशान कोण में बड़ा सम्माननीय स्थान दे दिया गया।

पद्मपुराण के अनुसार जब देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्र का मन्थन किया तब समुद्र से निकले हुए हलाहल की झार से सब झुलसने लगे। उस समय शिवजी ने वह सारा हलाहल लेकर घूँट लिया जिससे इनका कंठ तो नीला हो गया पर सारा शरीर जलने लगा। उसकी तपन मिटाने के लिए इन्होंने समुद्र-मन्थन से निकला हुआ चन्द्रमा अपनी जटाओं पर उठा चढ़ाया। इसीलिये इन्हें नीलकण्ठ और चन्द्रशेखर कहते हैं।

जब एक दैत्य हाथी का रूप बनाकर ब्राह्मणों का विनाश करने के लिये काशी में आ घुसा तब शिव ने ही उसे मारकर उसकी खाल अपने ऊपर ओढ़ ली थी। इसी से समझा जा सकता है कि उनका कितना विशाल रूप होगा। हाथी की खाल ओढ़े रहने के कारण ही उन्हें कृत्तिवासस् कहा जाता है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार इन्होंने देवताओं और असुरों के युद्ध में अपने पुत्र कार्तिकेय को देवसेना के सेनापति के रूप में अभिषिक्त किया था।

यों तो ये सदा देवताओं के ही पक्ष में रहे तथापि महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार इन्होंने देवताओं से तीन बार तथा नारायण और कृष्ण से एक-एक बार युद्ध किया था। नारायण से युद्ध करते समय इन्होंने उनकी छाती पर जो शूल चलाया था वही नारायण का श्रीवत्स चिह्न बना हुआ है।

दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करने के अतिरिक्त इन्होंने आकाश में तैरनेवाले असुरों के त्रिपुर नाम के सोने, चाँदी और लोहे के बने तीन नगरों को जलाकर तीनों असुरों को भी मार डाला था जिससे ये त्रिपुरारि कहलाने लगे।

शिव का तमास रूप

शिव के सब गण विचित्र-विचित्र वेश और मुखवाले भयंकर भूत-पिशाच आदि हैं। शिव अपने शरीर पर चिताभस्म पोते रहते, हाथ में कपाल लिए रहते और श्मशान में निवास करते रहते हैं। उनके इसी अमंगल वेश के आधार पर ही कंकाल, शैव, पाखण्ड और महादेव आदि कई तामस पंथ चल पड़े।

विष्णु की आज्ञा से इन्होंने कणाद, गौतम, क्षत्रिय, उपमन्यु, जैमिनि, कपिल, दुर्वासा, मृकण्डु, बृहस्पति, भार्गव और जामदग्न्य ऋषियों को अपने तामस रूप में दीक्षित किया था।

जब देवताओं के यज्ञ में इन्हें भाग नहीं मिला तब इन्होंने क्रोध करके भग की एक आँख फोड़ डाली, पूषनु के दाँत तोड़ गिराए और इनके भय से यज्ञदेवता भी मृग बनकर भाग खड़े हुए। भूत-पिशाचों के अधिपति वीरभद्र आदि इन्हीं के

पुत्र माने जाते हैं। इसी कारण इनको महाकाल और इनकी पत्नी को महाकाली कहा गया है।

स्कन्दपुराण में बताया गया है इक बकरे, घोड़े, बैल आदि प्राणियों के सिरों-जैसे इनके सात सिर थे जिनमें से इन्होंने अपना बकरेवाला सिर तो ब्रह्मा को दे दिया और घोड़ेवाला विष्णु को। वामन आदि पुराणों में इन्हें भूतों का पति और शीघ्र क्रोध करनेवाला बताया गया है। किन्तु रुद्र का यु तामस रूप ध्यान-मग्न और ज्ञान-मग्न शिव के रूप से भिन्न है। ऋग्वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों के रुद्र ही उपनिषदों में आकर शुद्ध आध्यात्मिक रूपवाले शिव बन गए जिनकी पूजा, फल-पुष्प आदि से की जाने लगी और पर ब्रह्म की साधना करनेवाले तत्त्वज्ञानी भी उन्हें महादेव मानने लगे।

महाभारत में रुद्र और शिव के इन्हीं ही रूपों की दो मूर्तियाँ शिवा और घोरा बताई गई हैं जिनमें से घोरा तो अग्नि-रूप है और शिवा अत्यन्त गुह्य (गोपनीय) और अध्यात्म स्वरूपवाले महेश्वर हैं।

शिव का परिवार

शिव की दो पत्नियाँ मानी गई हैं— एक थीं दक्षकी पुत्री सती और दूसरी हैं हिमालय की पुत्री पार्वती (उमा)। सती से शिवजी को कोई पुत्र नहीं था किन्तु पार्वती से इन्हें दो पुत्र हुए— एक गणेश, जो पार्वती के शरीर की मैल के उत्पन्न हुए और दूसरे कार्तिकेय (स्कन्द, कुमार, सेनापति या षण्मुख) जो देवताओं के सेनापति हुए। इनके अतिरिक्त पार्वती ने भूत-पिशाचों के अधिपति वीरभद्र को, बाणासुर को और शिलाद के पुत्र नन्दी को भी अपना पुत्र मान लिया था।

शिव की उपासना के दे रूप

शिव की उपासना दे रूपों में की जाती है— एक तो रूपधारी शिव की और दूसरे शिवलिंग

की। वैदिक वाङ्मय में शिवजी की उपासना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। पतंजलि के महाभाष्य में शिवस्कन्द और विशाख की स्वर्ण आदि धातुओं की मूर्तियों का बहुत उल्लेख मिलता है। स्कन्द के तीन छोटे भाई मन्वु, शाख और नैगमेय भी माने जाते हैं।

शिवलिंग की उपासना

शिवलिंग की उपासना का सबसे पहला संकेत श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है जहाँ ईशान रुद्र को समस्त योनियों का स्वामी बताया गया है किन्तु वहाँ भी शिवलिंग को शिव का स्पष्ट प्रतीक नहीं बताया गया। केवल महाभारत में उपमन्वु में उपमन्वु के आख्यान में शिवलिंग की उपासना का स्पष्ट निर्देश मिलता है। कुछ विद्वानों ने इन्हें अनार्यों का देवता माना है किन्तु ये तो आर्यों और अनार्यों दोनों के देवता हैं। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में इन्हें तस्कराणां पतिः (चोरों का स्वामी) भी कहा गया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में सिक्कों पर जो शिव-मूर्तियाँ मिली हैं उनका स्वरूप महाभारत के अनुशासन-पर्व में वर्णित शिव के त्रिशूल (चतुर्मुख), विवस्त्र (नंगे, दिग्वासस्), ऊर्ध्वलिंग (ऊर्ध्वरेतस्), योगाध्यक्ष (योगेश्वर) स्वरूप बहुत मिलता-जुलता है।

मोहनजोदड़ो (मोहन के टीले) या मुअनजोदड़ो (मरे हुओं के टीले) में प्राप्त इस शिव के समान देवता की मूर्तियों की बाईं ओर व्याघ्र

और हाथी है तथा दाईं ओर गैंडा है। यह रूप महाभारत के अनुशासनपर्व में शिव के वर्णन से मिलता-जुलता है जहाँ शिव को पशुपति, शार्दूलरूप, व्यालरूप, मृगव्याघररूप, नागचर्मोत्तरूप, व्याघ्राजिन, महिषघ्न, गजहा और मंडलीक बताया गया है और उनकी पत्नी गण्डिका को गण्डिनी कहा गया है।

बाबुलोन (बैबिलोनिया)– में प्राप्त अनेक शिल्प-दृश्यों में जिस वृषभवाहन और त्रिशूलधारी तेशव देवता की प्रतिमा मिलती है वह वैदिक और पौराणिक रुद्र के वर्णन से बहुत मिलती-जुलती है। रुद्र या शिव के समान ही तेशव के हाथ में भी विद्युत्, धनुष, त्रिशूल, दण्ड, परशु, पट्टीश आदि अस्त्र विद्यमान हैं। तेशव के समान ही शिव भी अम्बिका के पति हैं जिन्हें पार्वती और उमा कहा गया है। तेशव देवता की पत्नी सिंहासन पर बैठी मिलती हैं। जो सिंहवाहिनी दुर्गा से मिलती-जुलती हैं। सूसा में तेशव देवता की पत्नी का जो मधुमक्खी के रूप में चित्र मिलता है वह मार्कण्डेयपुराण की भ्रामरी देवी के वर्णन से मिलता है जिसने असुर नाम के असुर को मारा था। सम्भवतः ये असुर, असुरिया (असीरिया) के रहनेवाले होंगे। शिव की पूजा सारे भारत ओर पश्चिम एशिया के देशों में होती रही और सिन्धुघाटी में तो बहुत प्राचीन काल से ही शिव का पूजन होता रहा है।



दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततःपरम् ।

तमधिगम्य तथैव पुनर्भवौ न न महीनमहीनपराक्रमम् । ।

जैसे दसों दिशाओं को जीतनेवाले रघु ने तथा उनके बाद अज ने धरती की शोभा बढ़ाई थी, उसी प्रकार उन्हीं दोनों के समान पराक्रमी दशरथ ने भी धरती की शोभा बढ़ाई।

लोकप्रचलित सत्यनारायण-कथा : आधारान्वेषण

□ आचार्य किशोर कुणाल

सत्यनारायण भगवान् की कथा घर-घर में व्याप्त है। किसी भी शुभ कार्य के श्रीगणेश में अथवा पूर्णिमा, एकादशी-जैसी पावन तिथियों पर सत्यनारायण भगवान् की कथा का आयोजन अवश्य होता है।

कुछ पुरुषों की जिज्ञासा रहती है कि भगवान् विष्णु की पूजा सत्यनारायण-रूप में किस प्रकार होने लगी। भविष्यपुराण के अनुसार सत्ययुग, त्रेता एवं द्वापर में जो अनेक रूपधारी विष्णु हैं, वही कलियुग में प्रत्यक्ष फल देनेवाले सत्यनारायण भगवान् हैं—

“कृते त्रेतायुगे विष्णुर्द्वापरेऽनेकरूपधृक्।
कलौ प्रत्यक्षफलदःसत्यनारायणो विभुः॥”

(प्रतिस्वर्गपर्वः २. २४. १७)

भागवत के अनुसार धर्म की पत्नी स्मृता के गर्भ से पुरुषोत्तम भगवान् ने सत्यसेन नाम से अवतार लिया और सत्यव्रत धारण कर असत्यवादियों, चरित्रहीनों, सत्यहीन यक्षों, राक्षसों एवं प्राणिद्रोही भूतगणों का संहार किया—

धर्मस्य स्मृतायां तु भगवान् पुरुषोत्तमः।
सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह॥
सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान्।
भूतद्रुहो भूतगणांस्त्ववधीत् सत्यमित्सखः॥

(८. १. २५-२६)

भागवत में कृष्णावतार के पूर्व भगवान् की जो गर्भस्तुति है, इसमें भी उन्हें सत्य के अनेक विशेषणों से विभूषित किया गया है।

कूर्मपुराण में विष्णु भगवान् के अवतार सत्य को सत्या के गर्भ से उत्पन्न बताया गया है—

उत्तमे त्वन्तरे विष्णुः सत्यै सह सुरोत्तमः।
सत्यायामभवत् सत्यः सत्यरूपो जनार्दन॥
(१. ८६. २६)

महाभारत में नारायण का एक नाम ‘सत्य’ है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—
नोक्तपूर्वं मया क्षुद्रमश्लीलं वा कदाचन।
ऋता ब्रह्मसुता सा मे सत्या देवी सरस्वती॥
सच्चासच्चैव कौन्तेय मयाऽऽवेशितमात्मनि।
पौष्करे ब्रह्मसदने सत्यं मामृषयो विदुः॥
(१२. ३८२. ७५-७६)

अर्थात् मैंने कभी ओछी या अश्लील वार्ता नहीं की है। सत्यस्वरूपा ब्रह्मसुता सरस्वती मेरी वाणी हैं। हे कुन्तीपुत्र, सत् और असत् को मैंने अपने भीतर ही कर रखा है; इसलिये ब्रह्मलोक में रहनेवाले ऋषि मुझे ‘सत्य’ कहते हैं।

सम्प्रति सत्यनारायण की लोकप्रचलित व्याख्या इस प्रकार है:- सत्य ही नारायण हैं या नारायण ही सत्य हैं। सत्यनारायण की पूजा से हमें सत्यपथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है। अतः सत्यनारायण भगवान् की पूजा जितनी अधिक प्रचलित हो, समाज का उतना अधिक कल्याण होगा।

किन्तु अभी जो सत्यनारायण-कथा प्रचलित है, उसमें कथा नगण्य है; मात्र कथा का माहात्म्य मिलता है। उस कथा को कहते समय प्रत्येक अध्याय के अन्त में उद्घोष किया जाता है—“इति स्कन्दपुराणे रेवाखण्डे...” किन्तु स्कन्दपुराण के मान्य रेवाखण्ड में यह कथा नहीं मिलती। मैंने स्कन्दपुराण के उपलब्ध चार संस्करणों में इसका अन्वेषण किया; किन्तु किसी में यह कथा नहीं

मिली। हॉ, सन् १९६२ई० में गुरुमण्डलग्रन्थमाला, कलकत्ता द्वारा विंशपुष्प के रूप में प्रकाशित 'स्कन्दपुराण में बंगवासी प्रेस कलकत्ता से पूर्व प्रकाशित स्कन्दपुराण के आधार पर इस कथा का समावेश परिशिष्ट के रूप में इस टिप्पणी के साथ किया गया है कि मुंबई से प्रकाशित संस्करण में यह कथा नहीं है।' वर्तमान सत्यनारायण कथा की प्रामाणिकता विद्वानों की दृष्टि में सन्दिग्ध रही है। शोधपूर्ण ग्रन्थ 'पौराणिक कोश' के विद्वान् लेखक श्री राणा प्रसाद शर्मा ने इसी ग्रन्थ में 'सत्यनारायण' शीर्षक के अन्तर्गत यह लिखा है—

“सत्यनारायण— पुं० (सं०) विष्णु भगवान् का एक नाम, जिनके नाम से एक कथा बहुत प्रचलित है। कहते हैं कि सम्राट् अकबर के धार्मिक मत 'दीन इलाही' के प्रचार के लिए यह कथा लिखवाई गई थी पर पीछे पण्डितों ने इसे पौराणिक तथा हिन्दू धर्म के अनुकूल कर लिया। प्रायः सब शुभ कार्यों में इस कथा का स्थान रहता है; अतः आज तक इसका बहुत अधिक प्रचार है। बंगभाषा की कथा 'सत्यपीर' शायद यही है (देखिए सत्यनारायण-कथा: इतिहास-समुच्चय)।

विश्रुत धर्मशास्त्री 'भारत-रत्न' पाण्डुरंग वामन काणे ने अपने कालजयी ग्रन्थ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में लिखा है—“सत्यनारायण-व्रत बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश एवं महाराष्ट्र में अत्यन्त प्रचलित है; (भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, अध्याय २४-२६ में निरूपित) महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इसे मुसलमानी प्रभाव से आक्रान्त माना है। आरम्भिक काल में (और बहुत से स्थानों में आज भी) इसे 'सत्यपीर की पूजा' कहा जाता है; स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड (बंगवासी संस्करण) में उल्लिखित है (देखिए— जे० बी० ओ० आर० एस० जिल्द १६, पृ० ३२८)। जहाँ उपर्युक्त लेखक ने कहा है कि 'सीर्नी' की मुसलिम विधि

हिन्दुओं द्वारा सत्यनारायण की कथा में अपना ली गई। यह व्रत आधुनिक मध्यम वर्ग के लोगों एवं नारियों में अत्यधिक प्रचलित है। इस व्रत की कथाओं के लिए देखिए—'इण्डियन एण्टीक्वेरी' जिल्द ३, पृ० ८३-८५-----”

इसी प्रकार विद्वान् लेखक श्री एस.सी.काँटावाला ने पंचम विश्व संस्कृत सम्मेलन में प्रस्तुत अपने अंग्रेजी निबन्ध 'सत्यनारायण व्रतकथा और उपबृंहण' में हरप्रसाद शास्त्री एवं अमित मुखर्जी के एतद् विषयक लेखों का उल्लेख करते हुए इसके स्वरूप का विवेचन किया है।

मैंने प्रयत्न किया कि पहले इन मन्तव्यों का पूर्ण परीक्षण कर लूँ; तदनन्तर महावीर मन्दिर से प्रकाशित की जा रही बृहत् सत्यनारायण-व्रत-कथा की प्रस्तावना लिखूँ। मैंने यथासाध्य प्रयास किया कि श्री राणाप्रसाद शर्मा के उपर्युक्त उल्लेख का स्रोत पाऊँ जिसमें यह उल्लेख है कि यह कथा सर्वप्रथम अकबर के धर्म 'दीन इलाही' के प्रचार के लिए लिखी गई थी, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी मुझे इसका स्रोत अब तक नहीं मिल पाया है।

अन्वेषण में यह ज्ञात तो हुआ कि हिन्दुओं के प्रभाव से अकबर की आस्था सूर्योपासना में हो गई थी और इसके लिए 'आदित्य-सहस्रनाम' की रचना भी की गई, किन्तु सत्यनारायण-कथा की रचना इस प्रयोजन के लिए की गई, इसका प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिल पाया है। श्री शर्मा अधिकारी विद्वान् थे; अतः उन्होंने किसी प्रमाण के आधार पर ही ऐसा लिखा होगा। उसी के अन्वेषण में इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अतिशय विलम्ब हुआ है। मेरा अन्वेषण जारी है और यदि इस विषय पर कुछ भी प्रामाणिकता प्राप्त हुई, तो अगले संस्करण में उसका समावेश अवश्य किया जायगा। किन्तु तब तक 'श्रीविष्णु और उनके अवतार' के लेखक श्री कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

के निम्नलिखित मन्तव्य एवं निष्कर्ष से सहमति व्यक्त की जाती है—

“कतिपय विद्वान् सत्यनारायण की कल्पना अर्वाचीन मानते हैं। उनका अनुमान है कि अकबर द्वारा प्रवर्तित ‘दीन-ए-इलाही’ मत के प्रचारार्थ सत्यनारायण व्रतकथा लिखवाई गई होगी जिसे बाद में हिन्दू धर्म के अनुरूप परिवर्तित कर लिया गया है। बंगाल में प्रचलित सत्यपीर की कथा का हिन्दूकृत रूप भी इसे समझा जाता है— “सत्यनारायण पीरेर छद्मवेश धारण करे निजेर पूजा प्रचार करेछिलेन।” बंगाल में सत्यपीर की गाथा (सत्यपीर पाँचाली) के गायक मुसलमान हैं। सुकुमार सेन के अनुसार सत्यपीर और सत्यनारायण में ऐक्यस्थापन ख्रिस्ती सन् की अठारहवीं शती में हुआ होगा—“पीरेर गाथा औ पीरेर व्रतकथा रीतिमत रचना शुरू हय सप्तदश शताब्दे। ...ताहार पर शताब्देर शेष दुइ दशक हिते पीरनारायणेर एकत्ममूर्ति— याहा कृष्णराम देखाइयाछिलेन— ताहा पश्चिम और उत्तर बंगे नूतन देवता सत्यनारायण अथवा सत्यपीररूपे आविर्भूत हइल। सत्य एखाने आरबी ‘इक’ एर प्रतिशब्द। सूफी गुरुओ एइ नामे निर्देश करितेन। ...स्कन्दपुराणेर रेवाखण्डे ये काहिनी आछे, ताहाते फकिरेर स्थान लियाछे वृद्ध ब्राह्मण।”

कालिकारंजन कानूनगो का तर्क है कि हिन्दू देवताओं की पूजा में नैवेद्य रूप में ‘सिरनी’ (मिठाई विशेष) का उपयोग नहीं होता, जबकि सत्यपीर की पूजा में उसका होना आवश्यक है। वे भी स्वीकार करते हैं कि सत्यनारायण की पूजा और व्रतकथा-माहात्म्य आदि इस्लाम का ऋणी है।

सत्यनारायण-पूजा और उनकी व्रतकथा के माहात्म्य का इस्लाम धर्म से किंचित् प्रभावित मानना एक बात है और उसके प्रभाव से उत्पन्न स्वीकार करना दूसरी बात। किंचित् प्रभावित होना असम्भव तो नहीं कहा जा सकता, पर यह मानना

कि सत्यनारायण भगवान् की कल्पना और उनकी पूजा का प्रचलन इस्लाम धर्म अथवा अकबर के ‘दीन-ए-इलाही’ के कारण हुआ, कोरा भ्रम और मिथ्या कल्पना है। विष्णु के ‘सत्य’ अथवा ‘सत्यसेन’ अवतार की अवधारणा अति प्राचीन है। भले ही उनकी पूजा-उपासना का रूप पहले भिन्न प्रकार का रहा हो, पर सम्प्रति लोक प्रचलित सत्यनारायण की पूजा और व्रतकथा उसी परम्परा का विकास है। इसे इस्लाम प्रभावोत्पन्न मानना अयौक्तिक है।”

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भी अपनी प्रासिद्ध पुस्तक ‘पुराण-विमर्श’ में श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा की समीक्षा करते हुए लिखा है—“यद्यपि भारत के कोने-कोने में प्रत्येक शुभ अवसर पर श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा का समादर किया जाता है, तथापि प्रचलित कथा की पुष्पिका में दिया गया ‘स्कन्दपुराणे रेवाखण्डे’ पण्डितों में सदैव विवाद का विषय रहा है, क्योंकि स्कन्दपुराण की इस समय उपलब्ध प्रतिलिपियों के रेवाखण्ड में यह कथा नहीं है।”

आचार्यजी ने यद्यपि यह माना है कि वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई तथा नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित रेवाखण्ड में इस कथा का अभाव अवश्य है; परन्तु बंगवासी प्रेस, कलकत्ता के संस्करण में इसकी उपलब्धि के आधार पर वे इस प्रचलित कथा को मान्य रखने के पक्षधर प्रतीत होते हैं, किन्तु स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड के २३२ वें अध्याय में ही फलश्रुति तथा “रेवाखण्डसमाप्तिवर्णनं नाम द्वात्रिंशदधिकद्विंशततमोऽध्यायः” उल्लेख होने के कारण रेवाखण्ड २३२ वें अध्याय पर ही समाप्त प्रतीत होता है और सत्यनारायण कथा का अंश अवश्यमेव परिशिष्ट प्रतीत होता है।

स्कन्दपुराण रेवाखण्ड के अन्य संस्करणों में यह कथा भले ही न रही हो और बंगवासी संस्करण में बाद में जोड़ी गई हो; किन्तु

भविष्यपुराण के प्रतिस्पर्ग पर्व के २४-२६ अध्यायों में सत्यनारायण भगवान् की विस्तृत कथा प्रारम्भ से ही गुम्फित रही है। यह कथा वर्तमान लोकप्रिय कथा से कुछ मिलती जुलती है; किन्तु भविष्य पुराण में वर्णित कथा न केवल विस्तृत है; बल्कि अधिक क्रमबद्ध भी है और इसमें सत्यनारायण भगवान् के स्तुतिपरक श्लोक भी उत्तम हैं। मुझे तो दोनों कथाओं की समीक्षा से ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्यपुराण की कथा मौलिक थी; किन्तु मध्यकाल में भारत के कुछ खण्डों में मूल भविष्यपुराण के उपलब्ध न रहने के कारण किसी पण्डित ने स्मृति के आधार पर संक्षेप में उस कथा को लिख दिया और उसकी प्रामाणिकता प्रतिष्ठित करने के लिए उसे बाद में स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में जोड़ने का प्रयास किया गया, किन्तु यह कथा गौड़ीय संस्करण के अतिरिक्त और कहीं मान्य नहीं हुई।

ऐसी घटनाएँ बहुधा होती रहती हैं। आदि जगद्गुरु रामानन्दाचार्यजी की पुस्तक 'रामार्च-पद्धति' उपलब्ध न रहने पर पिछली शती में अयोध्या के ही एक महात्मा ने अपनी स्मृति एवं शैली से एक नवीन रामार्च-पद्धति की सर्जना कर डाली और वही रामार्चन-पद्धति अधिकतः प्रचलित है; जबकि रामानन्दाचार्यजी का मूल ग्रन्थ भी उपलब्ध है, किन्तु आजकल रामार्च मूल रामानन्दीय

ग्रन्थ से नहीं की जा रही है; बल्कि पिछली शताब्दी में विरचित ऐसे ग्रन्थ से यह पद्धति चल रही है जिसमें अर्चना का तो अभाव है; किन्तु दक्षिणा देने के विधान का बाहुल्य है। महावीर मन्दिर प्रकाशन से जगद्गुरु रामानन्दाचार्य-विरचित रामार्च-पद्धति भी शीघ्र प्रकाशित होने जा रही है।

प्रचलित सत्यनारायण-कथा के स्थान पर गहन अन्वेषण के अनन्तर इस "बृहत्-सत्यनारायण-कथा-प्रकाशः" को प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें वेद से 'नारायणसूक्त', उपनिषद् से 'नारायणोपनिषद्' अथर्वणरहस्य से 'नारायण-हृदय', श्रीमद्भागवत से 'नारायण-कवच', नारायण-लीलावतार, सत्यव्रत तथा भविष्यपुराण से सत्यनारायण-व्रत-माहात्म्य को गुम्फित किया गया है। आरती के रूप में नारदगीता और रामचरितमानस से 'जय जय सुरनायक, जनसुखदायक' को समाविष्ट किया गया है। भविष्यपुराण की इस बृहत् कथा में यह उल्लेख है कि सत्यनारायण-व्रत से समाज के सभी वर्गों एवं नाटियों को भी लाभ मिला है जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि सत्यनारायण-व्रत का अधिकार हर वर्ग एवं वर्ण को है। सभी व्यक्ति इस कथा का पाठ स्वयं श्रद्धापूर्वक कर सकते हैं या विद्वान् पुरोहित के माध्यम से सुन सकते हैं।



तव चरणसरोजे मन्मनश्चंचरीको

भ्रमतु सततमीश प्रेमभक्त्या सरोजे।

भवनमरणरोगात् पाहि शान्त्यौषधेन

सुदृढसुपरिपक्वां देहि भक्तिं च दास्यम्॥

हे ईश्वर! मेरा मन-रूपी भ्रमर आपके चरणकमल पर सदा मड़राता रहे। आप मेरी शान्ति-रूपी औषध से रक्षा करें। आप मुझे सुदृढ़ और परिपक्व भक्ति एवं दासता प्रदान करें।

गोपी-तत्त्व-मीमांसा

□ कैलाश त्रिपाठी

भगवान् एक हैं। वे एक होकर भी अनेकरूपता अपनाते हैं और अपने रूप में भी ज्यों-के-त्यों रहते हैं। 'एकोऽहं बहु स्याम' एक से अनेक होना और नाम-रूपात्मक नानात्व को प्राप्त होकर एक रहना; यह एकता में अनन्तता की अनिर्वचनीय स्थिति लीला है।

वे रस-स्वरूप भी हैं। वे आनन्द और उसके आस्वादायिता भी हैं। श्री वल्लभाचार्यजी सृष्टि-रचना का प्रयोजन लीला मानते हैं अर्थात् यहाँ लीला का हेतु लीला है। वे लीला को कैवल्य या मोक्ष भी मानते हैं, क्योंकि लीला का अनुचिन्तन या कीर्तन करते-करते उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे श्रीमद्भागवत को भगवान् का विग्रह मानकर द्वादश स्कन्धों को भगवान् के अंगों के रूप में देखते हैं तथा सर्ग, विसर्ग आदि दस लीलाओं का इन अंगों के साथ इनका अन्वय भी दरसाते हैं।

मनीषियों द्वारा भगवान् की लीलाओं का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया। कुछ विद्वानों ने ७७ प्रकार की लीलाएँ मानीं। नन्द-यशोदा, गोप-गोपी के प्रिय कृष्ण सदा रसेश्वर पुष्टि पुरुषोत्तम हैं। वे ब्रज में अपनी अवतरित लीला का विस्तार आनन्द हेतु करते हैं। अतः उनकी यह लीला अहेतुकी लीला है। रासलीला भगवान् की परम अन्तरंग लीला निज स्वरूपभूता गोपिकाओं और ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी के साथ होनेवाली दिव्यातिदिव्य लीला है जो पुराणों में मानवीय भाषा में वर्णित है। अन्तर्दृष्टि का अभाव, बहिर्दृष्टि की प्रबलता एवं भाषाई अर्थों के कारण यह आज मानवीय बुद्धि से विभिन्न आशंकाओं और कुतर्कों की परिधि में है। इन कुतर्कों और शंकाओं का समाधान सूक्ष्म

तात्त्विक चिन्तन के बिना सम्भव नहीं। इसके लिए आत्मतत्त्व, परमात्मतत्त्व, गीततत्त्व, गोपीतत्त्व, धामतत्त्व एवं लीलातत्त्व पर सूक्ष्म चिन्तन-मनन की आवश्यकता है। यहाँ गोपीतत्त्व पर साकेतिक विचार ही हमारा अभीष्ट है।

'नित्य विहार' चार नित्य तत्त्वों— राधा, कृष्ण, सहचरी एवं वृन्दावन धाम का समवेत रूप है। लीला-रस का सार सर्वस्वा श्रीराधाजी हैं जो श्रीकृष्ण का ही रसनीय रूप हैं। श्रीराधा का अंश स्वरूप अथवा कायव्यूह-रूपा अपर सिद्धियाँ या शक्तियाँ गोपियाँ हैं। 'अस्या एव कायव्यूह-रूपा गोप्यो'। (राधोपनिषद्)।

अध्यात्मशास्त्री कायव्यूहरूप को ठीक से जानते हैं। योगसिद्धि प्राप्त सामान्य योगी भी इसी कायव्यूह के द्वारा एक साथ अनेक शरीरों का निर्माण करके अनेक स्थानों पर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। अभिप्राय यह कि ह्लादिनी शक्ति राधा द्वारा स्वयं विभिन्न गोपी-रूपों में लीला करने से गोपियों को कायव्यूह रूपा भी माना गया। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि ब्रज की समस्त गोपियाँ कायव्यूह-रूपा ही थीं। शास्त्रों के अनुसार ब्रज में विभिन्न प्रकार की गोपियों के प्रथक्-प्रथक् यूथ थे तथा उनमें कभी-कभी यथा-स्थिति लीला की आवश्यकतानुसार कायव्यूह-रूपा गोपियाँ भी होती थीं।

कुछ महापुरुषों ने रासलीला का आध्यात्मिक भाव लेते हुए आत्मा को श्रीकृष्ण, आत्माकार वृत्ति को राधा, शेष आत्माभिमुख वृत्तियों को गोपियाँ तथा निरन्तर आत्मरमण को ही रास बताया है। यहाँ आत्माभिमुख मनोवृत्तियाँ ही गोपियाँ हैं।

भागवतकार ने गोप एवं गोपांगनाओं के रूप में देवताओं और देवांगनाओं के अवतीर्ण होने का उल्लेख करते हुए गोपियों की अप्राकृतता एवं नित्यता का संकेत किया है। ब्रह्माजी समाधिस्थ अवस्था में आकाशवाणी सुनकर देवताओं से कहते हैं कि भगवान् को पृथ्वी का कष्ट पहले से ही ज्ञात है। वे ईश्वरों के भी ईश्वर हैं अतः अपनी काल-शक्ति के द्वारा पृथ्वी का भार हरण करते हुए वे जब तक पृथ्वी पर लीला करें तब तक तुम लोग भी अपने-अपने अंशों के साथ यदुकुल में जन्म लेकर उनकी लीला में सहयोग दो। वसुदेवजी के घर स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् प्रकट होंगे। उनकी और उनकी प्रियतमा की सेवा के लिए देवांगनाएँ जन्म ग्रहण करें।

पुरैव पुंसावधृतो धराण्वरो

भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।

स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः

स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि।।

(१०.१.२२.)

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।

जनिष्यते तन्नियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः।।

(१०.१.२३.)

अभिप्राय यह है कि देवांगनाएँ भी ब्रजांगनाओं के रूप में भगवान् की सेवा के लिए अवतरित हुईं। यहाँ भी यह अभिप्राय उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि केवल देवांगनाएँ ही गोपियों के रूप में अवतरित हुईं। बल्कि यह भी गोपियों का एक प्रकार है। अर्थात् गोपियों के एक यूथ को देवांगना रूपी-गोपियाँ कहा जा सकता है।

भागवत की रास लीला में गोपियों को श्रीकृष्ण की प्रतिबिम्ब-स्वरूपा भी कहा गया है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव में पास्परिक अभिन्नता का संकेत प्राप्त होता है। इसे हम कायव्यूह-रूपा के भाव से भी देख सकते हैं तथा अन्य रूप में भी।

रेमे रमेशो ब्रज सुन्दरीभिः यथार्भकः
स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः। (१०.३३.१७.)

पद्म, ब्रह्मवैवर्त और स्कन्दादि पुराणों में भी गोपियों के तात्त्विक और सैद्धान्तिक रूप को विशद रूप में प्रस्तुत किया है। पद्मपुराण के अनुसार श्रीराधा मूल प्रकृति हैं और गोपियाँ प्रकृति-अंशरूपा। पद्मपुराण के पातालखण्ड में ऐसे ऋषियों का भी वर्णन है जिन्होंने अनेक कल्पों के कठोर तप के बाद गोपी-रूप प्राप्त किया; यथा— उग्रतपा नामक ऋषि सौ कल्पों की कठिन तपस्या के बाद सुनन्द नामक गोप की कन्या 'सुनन्दा' हुए। सत्यतपा मुनि सूर्ये पत्तों पर दस कल्प की तपस्या के उपरान्त सुभद्र नामक गोप की कन्या 'सुभद्रा' हुए, ब्रह्मरानी जाबालि नौ कल्पों के बाद प्रचण्ड नामक गोप के यहाँ 'चित्रगन्धा' के रूप में प्रकट हुए। ब्रह्मर्षि कुशध्वज ब्रज में सुधीर नामक गोप की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुए।

अभिप्राय यह है कि तपस्वी ऋषि-रूपी गोपियों का भी एक यूथ था। स्कन्दपुराण में श्रीराधा को आनन्द-विग्रह श्रीकृष्ण की आत्मा तथा गौ, गोप और गोपियों को उनकी कामनाओं और वांछाओं के रूप में निरूपित किया गया। अपनी नित्य कामना-स्वरूप गो, गोप और गोपियों के साथ विहार के कारण वे आप्त-काम हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में गोपियों की अपने से अभिन्नता और दिव्यता का निर्देश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं— "जैसा मैं वैसी तुम हो। वेद में हमारा किसी प्रकार का भेद वर्णित नहीं है। मैं तुम्हारा प्राण हूँ और तुम मेरे प्राण हो। तुम्हारा मेरे प्रति प्रेम का परमव्रत लोक-हितार्थ है, स्वार्थ नहीं। तुम गोलोक से मेरे साथ आई हो और मेरे साथ ही तुम्हारा यहाँ से गमन होगा।" यह भगवान् की नित्यसिद्धा चिदानन्दमयी गोपियों तथा उनकी स्वरूपभूता अन्तरंग शक्ति-रूपी गोपियों का संकेत है।

इस प्रकार पुराणादि में विभिन्न प्रकार की गोपियों के संकेत उपलब्ध हैं। कुछ गोपियाँ नित्य सिद्धा चिदानन्दमयी हैं, कुछ अपनी तीव्रतम साधना से भगवान् की मुक्तजन-वांछित सेवा हेतु गोपियों के रूप में आईं, कुछ पूर्व जन्म की देव-कन्याएँ थीं, कुछ ऋषि एवं अन्य भक्तजन तथा कुछ श्रुतिरूपा गोपियाँ भी थीं, जो नेति-नेति युक्त परमात्मा का वर्णन करते हुए भी उन्हें साक्षात् रूप से प्राप्त नहीं कर सकती; अतः गोपियों के साथ भगवान् के दिव्य रसमय विहार की बात जानकर गोपियों की उपासना करके गोपीरूप में आईं; यथा— उद्गीता, सुगीता, कलगीता एवं कलकण्ठिका आदि।

इसी प्रकार रामावतार में उनके सौन्दर्य पर मुग्ध ऋषिगण भगवान् की प्रार्थना से प्राप्त वर के परिणाम-स्वरूप गोपीरूप से अवतीर्ण हुए। इसके अतिरिक्त मिथिला, अयोध्या की गोपी तथा पुलिन्द गोपी, रमावैकुण्ठ, श्वेतद्वीप एवं जालन्धरी आदि गोपियों के अनेक यूथ होने के भी वर्णन हैं।

श्रीकृष्णावतार पुरुषोत्तम परब्रह्म का आनन्द-स्वरूप अवतार हैं। नित्य गोलोक में होनेवाले रसरूप कृष्ण के नित्यरास की गोपिकाएँ भगवान् की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्य शक्ति हैं। कृष्ण धर्मी हैं, गोपिकाएँ उनका धर्म। दोनों अभिन्न हैं। महाकवि सूरदासजी भी गोपियों के इस नित्य-सिद्धा रूप का परिचय देते हुए कहते हैं—

गोपी-पद रज महिमा, बिधि भृगु सौं कही।
बरस सहस तप कियौ, तू मैं न लही।।
ब्रज सुन्दरी नहीं नारि, रिचा स्रुति की सब आहीं।
मैं अरु सिव पुनि सेष, लक्ष्मी तिन सम नाहीं।।

नन्ददासजी ने भी गोप-गोपियों को श्रीकृष्ण के अनुरूप अखण्ड उज्ज्वल रस मानते हुए रस-स्वरूप श्रीकृष्ण के अपरोक्ष भोग का अनुभव करती गोपियों को परमात्मा की अभिन्न स्वरूपा शक्तियों के रूप में चित्रित किया है—

जदपि अखण्डानन्द नन्द-नन्दन ईश्वर हरि
तदपि महाछवि पाइ छबीली ब्रजदेविन करि
पुनि ब्रजसुन्दरि संग मिलि सोहै सुन्दर वर यों
अनेक शक्ति करि आवृत सोहै परमात्म ज्यों।।

गोपियों को प्राकृत नहीं माना जा सकता, क्योंकि भगवान् का लीलाधाम, लीलापात्र, लीलाशरीर और उनकी लीला प्राकृत नहीं होती। जो परमात्मा के शरीर को भूतसमुदाय से निर्मित मानता है उसका श्रौत-स्मार्त किसी शास्त्रीय कार्य में अधिकार नहीं है—

न भूतसंघ-संस्थानो देवस्य परमात्मनः।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः।।
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौत-स्मार्त-विधानतः।

(महाभारत)

उपर्युक्त शास्त्रीय आधार पर ही सन्त कबीरदासजी कहते हैं—

कबिरा कबिरा क्या कहे चल यमुना के तीर।
एक एक गोपी चरण पर वारों कोटि कबीर।।
रसिक रसखान ने भी कहा है—

जदपि जसोदा नन्द अरु, ग्वाल बाल सब धन्य।
पै या जग में प्रेम को, गोपी भई अनन्य।।

भगवान् के समान गोपियाँ भी परम रसमयी और सच्चिदानन्दमयी हैं। ये दिव्य जगत् की भगवान् की स्वरूपभूता अन्तरंग शक्तियाँ हैं। जिन्होंने गोपी-तत्त्व का आर्थिक मर्म भी जान लिया, उन्होंने गोपियों की चरणधूलि के स्पर्श से अपनी कृतकृत्यता चाही है।

शिव-कुटी, आर्यनगर
अजीतमल (औरैया)
उ०प्र० — २०६१२९



मनु की दृष्टि में नारी

□ विद्यावाचस्पति डा. श्रीरंजन सूरिदेव

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में नारी को शक्ति का प्रतीक मानकर उसकी महिमा का व्यापक वर्णन किया गया है। 'दुर्गासप्तशती' के आदिग्रन्थों में 'मार्कण्डेयपुराण' में तो संसार की सभी स्त्रियों को देवी भगवती का भेद या प्रतिरूप माना गया है— "विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।" पुराणों में जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर स्वीकार किया गया है— "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।" हम यहाँ मनु महाराज की दृष्टि से नारी-शक्ति की अस्मिता के विभिन्न आयामों पर विचार करेंगे।

मनु महाराज ने मातृशक्ति को बहुत मूल्य दिया है। उन्होंने माता को पिता से बढ़कर पूजनीय बताया है। वह लिखते हैं—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।।

(अध्याय : २.१४५)

अर्थात् दस उपाध्यायों की अपेक्षा एक आचार्य बड़े होते हैं। पुनः सौ आचार्यों की अपेक्षा एक पिता श्रेष्ठ होता है और हजार पिताओं की अपेक्षा एक माता बड़ी होती है।

इसके अतिरिक्त मनु ने लिखा है कि घर की सभी स्त्री-सदस्याओं; जैसे मामी, फुआ, बड़ी बहन, मौसी, सास आदि के प्रति माता के समान ही व्यवहार करना चाहिए। यद्यपि माता इनसे बड़ी होती है, तथापि ये माता-जैसी पूजनीया हैं।

पुनः परस्त्री या परगोत्र की बहू, बहन आदि का नाम न लेकर उन्हें 'बहन' शब्द से तथा लड़कियों या कन्याओं को 'आयुष्मती' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए। विशेषतः मौसी, मामी, फुआ और सास को गुरुपत्नी-तुल्य मानकर उनका अभिवादन करना चाहिए, क्योंकि वे पद-मर्यादा

की दृष्टि से गुरुपत्नी के समान ही होती हैं। गुरुपत्नी की पंचमाता में गिनती होती है। पाँच माताएँ इस प्रकार हैं— अपनी माता, पत्नी की माता, राजमाता, गुरुपत्नी और मित्रपत्नी।

मनु कहते हैं कि नारी की उत्पत्ति या सृष्टि ब्रह्मा के आधे शरीर से हुई है। ब्रह्मा ने इसी स्वयंसृष्ट स्त्री में मैथुनधर्म के द्वारा विराट् संसार को उत्पन्न किया और यही स्त्री संसार की आदिजननी के रूप में प्रतिष्ठित हुई है।

मनु की दृष्टि में कुमारी कन्या को विवाह के समय पिता आदि की ओर से स्वेच्छापूर्वक दिया जानेवाला धन दहेज नहीं है, अपितु वह कुमारी-पूजन स्वरूप अर्पित धन है। विवाह के समय और उसके बाद भी पति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को धन अर्पित करे और पिता का यह कर्तव्य है कि कन्या के पति से प्राप्त धन को वह कन्या को अर्पित करे और अपनी ओर से भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से सत्कार करे और भाई भी बहन का उसी प्रकार सम्मान करे। इसी क्रम में मनु ने लिखा है— 'बहुकल्याणमीप्सुभिः।' (३.५४.५५) अर्थात् जो पिता अपना अधिक कल्याण चाहता है, उसे कन्या का सम्मान अवश्य करना चाहिए। कन्या को दिया गया धन कई गुना होकर पिता या भाई को वापस मिलता है। यह कथन 'मनुस्मृति' के टीकाकार कुल्लूकभट्ट का है।

मनु के अनुसार कन्या का समझदार पिता कन्यादान के निमित्त लोभवश अणुमात्र भी शुल्क लेता है तो उसे पुत्री-विक्रय का पाप लगता है। मोहवश जो भी बन्धु-बान्धव अपने उपभोग के लिए स्त्रीधन लेते हैं, वे पापवश अधोगति पाते हैं (८३.५१-५२)।

मनु कहते हैं कि जिस कुल में नारियों की पूजा होती है, उस कुल में देवता वास करते हैं

और जहाँ इनका सम्मान नहीं होता, वहाँ सारी क्रियाएँ निष्फल होती हैं। मूल श्लोक इस प्रकार है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(३.५६)

मनु ने नारी-सम्मान की बात को बहुत गम्भीरता से लिया है। वे कहते हैं—जिस कुल की पत्नी, पुत्रवधू, पुत्री आदि सगे सम्बन्धी की स्त्रियाँ दुःख में रहती हैं, वह कुल शीघ्र विनष्ट हो जाता है और जिस कुल में ऐसा नहीं होता, उस कुल की सदा वृद्धि होती है (३.५७)।

ये गृहस्त्रियाँ असम्मानित होने पर अभिशाप दे डालती हैं, जिससे वह घर पूरी तरह नष्ट हो जाता है। इसलिये ये स्त्रियाँ भोजन, वसन और आभूषण से सदा सम्मानित करने योग्य हैं; विशेषतः कल्याणकामी जनों द्वारा विभिन्न उत्सव, समारोह आदि के अवसरों पर तो इनका सम्मान अवश्य ही किया जाना चाहिए (३.५८-५९)।

मनु ने लिखा है, जिस कुल में पत्नी से पति और पति से पत्नी सन्तुष्ट रहती है, उस कुल में निश्चित रूप से नित्य कल्याण होता है। मूल श्लोक है—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

(३.३०)

मनु के विचार से कुल की शोभा सन्तुष्ट स्त्री से ही होती है। असन्तुष्ट स्त्री से कुल की शोभा नष्ट हो जाती है। यदि पति से पत्नी को आनन्द न मिले और पत्नी से पति को हर्ष की प्राप्ति न हो तो सन्तति-परम्परा की वृद्धि पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है (३.६१-६२)।

मनु ने स्त्रियों को अतिथि से भी श्रेष्ठ स्थान दिया है। खासकर नवविवाहिता, कुमारी और गर्भिणी स्त्रियों को तो अतिथियों को भोजन कराने के पहले ही भोजन करा देना चाहिए (३.११४)।

मनु की दृष्टि में, स्त्रियों में माता का विशेष मूल्य है। इसलिये माता के प्रति कदापि प्रतिकूल

व्यवहार नहीं करना चाहिए (४.१६२)। पुत्री, पुत्रवधू, बहन और पत्नी से विवाद की बात तो दूर, वैचारिक विवाद या वाक्कलह तक नहीं करना चाहिए (४.१८०)। विशेषतया पुत्री तो परम कृपा की पात्री होती है, इसलिये वह यदि अपमानित भी करे, तो उसे सह लेना चाहिए, किन्तु उससे विवाद नहीं करना चाहिए। पत्नी और पुत्री तो अपने शरीर जैसी ही होती हैं, इसलिये अपने-आपके साथ विवाद कैसा (४.१८४)? पति के बिना पत्नी का और पत्नी के बिना पति का कोई भी यज्ञ पूरा नहीं होता। दोनों एक दूसरे के लिये अविच्छेद्य और अनिवार्य हैं। सीता-निर्वासन के बाद राम ने जब यज्ञ किया था, तब सीता की प्रतिमूर्ति के साथ गटबन्धन करके उन्होंने यज्ञाहुति का कार्य सम्पन्न किया था।

मनु ने लड़कियों की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये विशेष आग्रह व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है, अगर कोई मनुष्य द्वेषवश किसी कन्या में अनपेक्षित या अनुचित तरीके से दोष आरोपित करे तो शासक का कर्तव्य है कि वह कन्या को निर्दोष मानकर दोषारोपण करनेवाले को दण्डित करे (८.२२५)। मनु का कहना है कि स्त्रियों के व्यवहार (न्यायवाद) में स्त्रियाँ ही सच्ची साक्षिणी होती हैं (८.६८)।

परस्त्री से छेड़-छाड़ या बलात्कार करनेवालों के लिये मनु ने कठोर दण्ड का विधान किया है। उन्होंने लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को नाक, ओठ आदि कटवाने-जैसा अतिशय पीड़ादायक दण्ड देकर देश से निर्वासित कर देना चाहिए—

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्महीपतिः।

उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत्॥

(८.३५२)

कन्या की इच्छा के विरुद्ध जो व्यक्ति उसे दूषित करने का साहस करता है, वह तत्क्षण वध का भागी होता है। अर्थात् उस व्यक्ति को उसी क्षण फाँसी दे देनी चाहिए (८.३६४)।

जो पुरुष अपनी पत्नी की रक्षा यत्नपूर्वक करता है, वह अपनी रक्षा तो करता ही है, अपनी

सन्तान, चरित्र और कुल की रक्षा करता है (६.७)। मनु ने स्त्री को घर के संचालन-कार्य के लिए अधिकृत करने का आदेश दिया है और लिखा है कि अर्थ के आय-व्यय का हिसाब रखने, गृह के विभिन्न उपकरणों की देख-भाल करने, धर्म और शुद्धि के कार्यों की निगरानी एवं अन्न आदि के उचित उपयोग के लिए स्त्री को ही नियुक्त करना चाहिये (६.११)। इससे स्पष्ट है कि मनु को यह विश्वास था कि गृह-संचालन में स्त्रियाँ जितनी दक्ष हो सकती हैं, उतना पुरुष नहीं हो सकते।

मनु की दृष्टि में जिस प्रकार श्रीहीन या धनहीन घर की शोभा नहीं होती, उसी प्रकार स्त्रीहीन पुरुष की स्थिति अशोभन होती है। वे लिखते हैं—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।।

(६.२६)

अर्थात् घर में रहनेवाली स्त्री और श्री (शोभा, सम्पन्नता) में कोई फर्क नहीं है। स्त्रियाँ सन्तति की उत्पत्ति का कारण होती हैं, अनेक कल्याणीय आयामों का आधार होती हैं, वस्त्र, अलंकार आदि द्वारा सम्मानित करने योग्य होती हैं और सबसे बढ़कर अपने घर की रौनक होती हैं।

इतना ही नहीं, सन्तान को जन्म देकर उसके पालन-पोषण और प्रतिदिन की लोकयात्रा (लोक-व्यवहार) के निमित्त स्त्री ही प्रत्यक्ष कारण होती है। सन्तान, धर्मकार्य, परिचर्या, उत्कृष्ट प्रेम और पितरों की स्वर्गप्राप्ति का कारण-रूप सन्तान उत्पन्न करना ये सारे कार्य स्त्री के ही अधीन हैं। जो स्त्री मन, वचन और शरीर से संयत रहकर निश्छल भाव से पति के साथ जीवन-यापन करती है, वही 'साध्वी' कहलाती है (६.२७-२८)।

मनु कहते हैं—समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का मूल कारण स्त्री है। स्त्री क्षेत्र के समान होती है। क्षेत्र न हो तो पुरुष-रूप बीज निष्फल ही माना जायगा। इसलिये सन्तान की उत्पत्ति में क्षेत्र और

बीज की समान भागीदारी होती है। मूल श्लोक इस प्रकार है—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।

क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्।।

(६.३३)

मनु का विचार है कि मनुष्य को अपनी इच्छा से पत्नी नहीं मिलती, वरन् देवता की जैसी इच्छा होती है, वैसी ही पत्नी उसे प्राप्त होती है, इसलिये उस देव द्वारा प्राप्त पत्नी को बराबर अपनी अनुकूलता से प्रसन्न रखना चाहिये और उसमें थोड़ी प्रतिकूलता भी हो तो भी उसका पोषण करना चाहिये। स्त्री की सृष्टि सन्तान या वंश की परम्परा को बढ़ाने के लिए हुई है। एकमात्र स्त्री ही गर्भ धारण करने में समर्थ है और कोई भी धर्माचरण पत्नी के साथ ही पुरुष के लिए करणीय होता है। यह साधारण नियम है और ऐसा ही वेद में भी कहा गया है (६.६५-६६)।

मनु बहुविवाह के विरुद्ध थे। उनका कथन है कि पिता के द्वारा बेटों में धन का बँटवारा एक ही बार होता है, दान भी एक ही बार किया जाता है, दी हुई वस्तु का पुनर्दान नहीं किया जाता, उसी प्रकार कन्या भी एक ही बार दी जाती है—

'सकृत् कन्या प्रदीयते' (६.४७)। नारी के प्रति उदारचेता मनु ने व्यवस्था दी है कि एक पुरुष एक ही पत्नी रख सकता है। भगवान् महावीर ने भी 'एकनारी ब्रह्मचारी' की उद्घोषणा की है। बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, कन्या-विक्रय, पत्नी-परित्याग (तलाक) आदि का प्रबल निषेध मनु ने किया है। कन्या विदुषी और युवती होकर अपने समान गुणी पुरुष का स्वयं वरण कर सकती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मनु की दृष्टि में नारी की बड़ी प्रतिष्ठा थी।

पी.एन. सिन्हा कॉलोनी,

भिखनापहाड़ी, पटना-८०० ००६



धर्म और श्रीराम

□ दामोदर दत्त मिश्र 'प्रसून'

धर्म एक अविभाज्य तत्त्व है। यह समग्र चराचर जगत् को धारण करता है। 'धारणाद् धर्ममित्याहुः'— सबको धारण करने के कारण ही इसे धर्म कहा जाता है। यह एक और अखण्ड तत्त्व है। धर्म में हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, पारसी-जैसे विशेषणों को लगाना अज्ञानता का परिचायक है। विपुल भारतीय वाङ्मय में धर्म के पहले कभी-कभी 'सनातन' शब्द आता है, किन्तु यह शब्द वहाँ धर्म का विशेषण नहीं वरन् उद्देश्य का विस्तार मात्र है। 'युष धर्मः सनातनः'— जैसे पद स्मृतियों और पुराणों में बहुधा पाए जाते हैं। बौद्ध साहित्य और जैनागमों में भी 'युष धम्मो सनन्तनो' का उल्लेख अनेक बार हुआ है। इन सबको देखकर हम भारतीय अपने धर्म को 'सनातन धर्म' कह तो लेते हैं किन्तु इसे एक औपचारिकता मात्र मानना चाहिये और इन स्थानों में 'यही धर्म है जो सनातन है'— ऐसा अर्थ लगाना चाहिये। सनातन वेदादि धर्मशास्त्रों से उद्भूत होने के कारण भी मानव धर्म को सनातन धर्म की संज्ञा दी जाती है जिसके आदि व्याख्याता भगवान् मनु की मनुस्मृति के अनुसार—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मानः।

युतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनुस्मृतिः २.१२)

अर्थात् वेद, स्मृति सदाचार और ऐसे आचरण जो अपने मन को प्रिय लगे ये चारों (उत्तरोत्तर एक दूसरे के अनुकूल रहने पर) धर्म माने जाते हैं।

ये चार चीजें अलग-अलग होते हुए भी वस्तुतः एक हैं क्योंकि वेद इनका मूल है। कहा भी गया है कि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—

(मनुस्मृतिः २.६) — 'समस्त वेद ही धर्म के स्रोत हैं।'

भगवान् श्रीराम इस धर्मतत्त्व के साक्षात् स्वरूप हैं। राम धर्म से इतने ओत-प्रोत हैं कि 'राम धर्म हैं और धर्म राम हैं' ऐसा कहना अयुक्ति संगत नहीं होगा। एक ओर तो राम के चरित्र में जहाँ तनिक भी धर्म-विरोधी तत्त्व नहीं दीखते वहीं दूसरी ओर केवल राम को मानना समग्र धर्म के मानने के समतुल्य है। इसी अर्थ में अपने यहाँ एक बहुचर्चित पद है 'रामो विग्रहवान् धर्मः'— अर्थात् राम शरीरधारी धर्म हैं। राम दो प्रकार से धर्म की प्रतिमूर्ति हैं। एक तो धर्म की संहिता में निरूपित सभी गुणों की खान हैं और दूसरे— जब जब होई धरम के हानी। बाढ़इ असुर अधम अभिमानी॥ की स्थिति में अवतरित होकर अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा करके भी अपने को धर्म का प्रतिरूप ही सिद्ध करते हैं। इसे यों समझना होगा कि आत्मरक्षा— अपने आदर्शों की रक्षा सर्वोपरि कहा भी गया है कि 'आत्मानं सततं रक्षेद्दार्तरपि धनैरपि' अर्थात् धन और पत्नी की कीमत पर भी अपनी रक्षा करनी चाहिये।

यहाँ अपनी रक्षा से मतलब अपने जीवन के निर्धारित आदर्शों से है, जीवन की रक्षा से नहीं। जर, जमीन, जोर, जायदाद— इन्हें तो प्रतिष्ठा के बिन्दु मानना भारतीय परम्परा में सुसिद्ध है। अतः अपने आदर्शों की रक्षा इस सन्दर्भ में अभीष्ट है जिसमें श्रीराम अद्वितीय हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं— पुरुष की सत्तमता की हृदबन्दी राम के चरित्र में हो जाती है। वे 'बाप के राजबटाऊ की नाई' छोड़ करके वनगमन करते हुए एक ओर जहाँ

त्याग, तपस्या, स्वार्थहीनता, असंग्रह और पितृपरायणता आदि अनेक आदर्शों की प्रतिष्ठा करते हैं तो दूसरी ओर लंका-विजय के उपरान्त एक मामूली और निराधार लोकापवाद को भी गम्भीरता से लेते हुए अपनी प्रिय पत्नी का त्याग करके एक अभिनव लोकतन्त्र का बेजोड़ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनका लोकतन्त्र बहुमत का मुख्यापेक्षी नहीं है। इसके विपरीत वे 'व्यक्ति की गरिमा' को न केवल अपने संविधान के पन्ने पर बल्कि अपने अन्तस्तल में स्थान देते हुए एक प्रजा की प्रतिक्रिया को गम्भीरता से लेते हैं और सीता-वनवास का कठोर कदम उठाते हैं। लोकतन्त्र के इतिहास में ऐसा उदाहरण दुर्लभ है और दुर्लभ रहेगा। इस सम्बन्ध में श्रीराम की भीष्म प्रतिज्ञा है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।

(उत्तररामचरितः १.१२)

अर्थात् (व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित) स्नेह, दया और सौख्य, यहाँ तक कि (अपनी प्रिय पत्नी) जानकी को भी लोकहित में त्याग करना पड़े तो मैं कर सकता हूँ। इसमें मुझे तनिक भी पीड़ा नहीं हो सकती।

राम 'मंगलभवन अमंगलहारी' हैं। 'वे समष्टि के अमंगल का विनाश करके लोकमंगल करने के लिए तत्पर रहते हैं',— राम के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त नहीं होगा। उत्तररामचरित के उपर्युक्त श्लोक पर ध्यान दें तो हम पाएँगे कि श्रीराम का लोकमंगल, लोकाराधन की सीमा तक जाता है। वे लोक को या समष्टि को परमेश्वर का प्रतिरूप मानकर उसकी आराधना करते हैं। यह लोकाराधन भी राम को विग्रहवान् धर्म बनाने में कारणर सिद्ध होता है।

राम का धर्म सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। वह राम का धर्म, राम का आदर्श इसलिए है कि राम के देश में ही उसकी उद्भावना हुई अन्यथा

वह धर्म समस्त विश्व के लिए है। विश्व में भी न केवल मानवों के लिए बल्कि समस्त चराचर जगत् के कल्याण के लिए है। कल्याण भी मात्र आमुष्मिक नहीं— परलोक में होनेवाला नहीं वरन् ऐहिक— इहलोक में होनेवाला भी। जिस वस्तु से यहाँ, और जीते जी सुख नहीं मिला, कल्याण नहीं हुआ वह परलोक में सुखप्रद और कल्याणप्रद होगा इसका क्या ठिकाना? अतः वेदोदित धर्म की एक प्रयोजन-परक परिभाषा है—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।
(कणाद)

अर्थात् जिससे ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक— निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती हो वही धर्म है।

स्पष्ट है कि किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के समूह के अभ्युदय से यदि दुनिया के दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों का ही नहीं बल्कि जड़ या चेतन किसी भी सत्ता का अभ्युदय (विकास) बाधित होता हो तो वह कतई धर्म नहीं कहा जा सकता, उसे अधर्म या अपधर्म ही कहेंगे। धर्म के नाम पर जो मत या मजहब किसी या किन्हीं को नास्तिक, काफिर या हीदेन कहकर उनका सफाया कर देने तक को भी एक पवित्र कृत्य मानते हों उनके सिद्धान्त को भी धर्म मान लेना मानसिक दिवालियापन है, अधर्म को प्रश्रय देना है। ऐसी स्थिति न तो कभी हो सकती है और न विचारों के विकास की दिशा में उसका कोई महत्त्व ही है कि दुनिया के सभी लोग किसी एक मत, मजहब या सम्प्रदाय को मानने लग जायें। हाँ, जैसे किसी धर्म को तो सभी मानने को बाध्य होंगे, नहीं चाहकर भी मानेंगे जिसमें उनके नहीं माननेवालों के भी कल्याण की कामना की जाती हो, विद्यार्थियों के भी हित साधन की भावना अनुस्यूत हो।

श्रीराम ऐसे ही धर्म के संवाहक हैं जिसके आचरण से समस्त जगत् के न केवल मानवों का कल्याण सम्भव हो बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के चेतन जीवों का ही नहीं अपितु पेड़-पौधे, नदी, पहाड़, अन्तरिक्ष, वायु, जल, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा सबका अभ्युदय हो, सबका कल्याण हो। इसके लिए वेदोदित धर्म में कुछ खास-खास अनुष्ठान बताए गए हैं जिनमें यज्ञ भी एक है। इसीलिए श्रीराम के कर्ममय जीवन का श्रीगणेश यज्ञ-रक्षा से होता है।

धर्म-प्रधान अध्यात्मवादी भारतीय-संस्कृति का विरोध भोगप्रधान भौतिकवादी राक्षस-संस्कृति सदा से करती आ रही है। राम के समय इस संस्कृति में यज्ञ का महत्त्व सर्वोच्च है, अतः लंका का रावण और उसके भारतीय गुर्गे-ताड़का, सुबाहु, मारीच आदि यज्ञ का मौखिक विरोध ही नहीं विध्वंसात्मक विरोध तक करते थे। परमेश्वर के निःश्वास-भूत वेदों के मन्त्रद्रष्टा वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, कपिल, जमदग्नि आदि ऋषि निरन्तर अनेक प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान करके लोक-कल्याण करते हुए भारतीय संस्कृति की ध्वजा सम्पूर्ण विश्व में फहराने में तत्पर थे तो उधर उनकी यज्ञशालाओं में आग लगाकर या वहाँ पर हाड़, मांस, रक्त आदि की वर्षा करके राक्षस उन यज्ञों का विध्वंस कर दिया करते थे। यह स्थिति भगवान् श्रीराम की सहन शक्ति के परे थी। अतः उन्होंने जैसे राक्षसों का संहार करके ऋषियों का यज्ञ सम्पन्न कराया।

धृति और क्षमा— ये दो धर्म के प्रमुख लक्षण हैं। इधर श्रीराम भी धृति यानी धैर्य में हिमालय की तरह हैं (धैर्येण हिमवानिव—वाल्मीकि रामायण) और क्षमा या सहिष्णुता में पृथ्वी के समान (क्षमया पृथ्वी-समः) हैं। अतः वे पहले तो स्वधर्म के रक्षक (रक्षिता स्वस्य धर्मस्य-वाल्मीकि रामायण) होने के कारण विविध

उपायों द्वारा विरोध का शमन करना चाहते हैं पर जब कोई उपाय कारगर नहीं होता तब शत्रुओं के लिए काल और अग्नि के सदृश भयंकर सिद्ध होते हैं (कालाग्नि-सदृशःक्रोधे)।

भारतीय संस्कृति को धर्म की प्रतिमूर्ति श्रीराम की वैचारिक और धार्मिक सहिष्णुता तो विरासत में मिली ही हुई है किन्तु शत्रु जब इस सद्गुण की उपेक्षा कर रहा हो तब उसका समूलोन्मूलन करना भी हमें श्रीराम ने ही सिखाया है, क्योंकि वे सर्वतोभावेन 'रक्षिता स्वस्य धर्मस्य'—(वा०रा०)—अपने धर्म के रक्षक हैं। यज्ञ के विरोधी राक्षसों के कुकृत्यों का वर्णन जब राम ने सुन लिया तब उसी क्षण उन्होंने समझ लिया कि अब धृति और क्षमा का समय बीत चुका है। यही नीति राम के चरित्र में सर्वत्र है, चाहे वह समुद्र के ऊपर पुल बाँधने का प्रसंग हो या रावण के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का प्रसंग।

मनुस्मृति के अनुसार धर्म के निम्नलिखित दस लक्षणः हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृतिः ६.८२)

अर्थात् धृति (धैर्य), क्षमा (सहिष्णुता), दम (धृति और क्षमा की उपेक्षा करनेवाले शत्रु का दमन), अस्तेय (चोरी नहीं करना), शौच (पवित्रता) इन्द्रिय-निग्रह (सभी इन्द्रियों पर नियन्त्रण), धी (धुद्ध बुद्धि), विद्या (ज्ञान), सत्य (सच्चाई) और अक्रोध (अधिक-से-अधिक स्थितियों से क्रोध को दबाना) ये ही धर्म के दस लक्षण हैं और राम के चरित्र को सम्यक् प्रकारेण देखने पर हमें ऐसा लगता है मानो इन्हीं दस सद्गुणों के ताने-बाने से उनके चरित्र का निर्माण हुआ है।

राम की धृति तब भी टस-से-मस नहीं होती जब उसी स्थिति में उन्हीं के पक्ष के सहयोगियों को

धृति साफ जवाब दे जाती है। परशुराम के कुवाच्यों का आघात सहते हुए राम अपनी बेजोड़ धृति का परिचय देते हैं, जब कि लक्ष्मण की धृति धराशायी हो जाती है। यज्ञ-विध्वंसक राक्षसों का विनाश करने के पूर्व भी तो राम ने विश्वामित्र ऋषि से जानकारी ले ही ली थी कि यज्ञकर्ता ऋषियों को धृति और क्षमा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है। धृति और क्षमा के विषय में यह नियम है—

मनागनम्यावृत्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमौ।
क्रियाः समभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः॥

अर्थात् 'एकबार अथवा अधिक-से-अधिक दुबारा आवृत्ति होने पर भी क्षमावान् क्षमा कर सकता है किन्तु बार-बार अपराध करनेवाले को भला कौन क्षमा कर सकता है?'

राक्षसों के ऐसे रवैये के बाद ही धर्म के दसवें लक्षण 'अक्रोध' को कुछ समय तक के लिए ताक पर रखकर श्रीराम को कालान्तकसमः क्रोधे के व्रत को चरितार्थ करना पड़ता है। धर्म के तीसरे लक्षण 'दम' (धर्म की राह में आड़े आनेवाले रिपुओं का दमन) के परिपालन में ऐसा विकराल क्रोध ही विशेष उपयोगी होता है। दम (बाह्येन्द्रिय-निग्रह नहीं क्योंकि आगे छठवाँ लक्षण 'इन्द्रिय-निग्रह' स्वतः आ जाता है) और अक्रोध धर्म के इन दोनों लक्षणों का सामंजस्य राम में ही सम्भव है जो 'क्षमया पृथिवी समः' होते हुए भी 'क्रोध में काल और यम के समान' हो जाते हैं। रिपुदमन के इस धर्म को निभानेवाले राम के क्रोध की तीव्रता इस अंश तक पहुँच जाती है कि शत्रु के धराशायी होने के बाद भी उनकी शौर्यपूर्ण भाव भंगिमाएँ यथावत् बरकरार रहती हैं। राम के इस स्वरूप की झाँकी हम नीचे लिखे श्लोक में पाते हैंः—

हत्वा युद्धे दशास्यं त्रिभुवनविषमं वाम हस्तेन चाप-
भूमौ विष्टभ्य तिष्ठन्नितर करधृतं भ्रामयन् बाणमेकम्।
आरक्तोपान्तनेत्रः शरदलितवपुः सूर्यकोटिप्रकाशो-
वीरश्रीबन्धुराङ्गस्त्रिदशपतिवृत्तः पातु मां वीर रामः॥

(अध्यात्म रामायण)

अर्थात् तीनों लोको के लिए भयप्रद दशानन का वध करने के उपरान्त जिन्होंने बाँएँ हाथ से धनुष संभाल रखा है और जो दाहिने हाथ से एक बाण लगातार भाँजते जा रहे हैं वे लाल-लाल विशाल नेत्रोंवाले वीरासन पर बैठे वीर राम हमारी रक्षा करें— जिनका सारा शरीर तो बाणों से विंध चुका है फिर भी करोड़ों सूर्यों की आभा से जो दीप्त हो रहे हैं।

भुजाएँ उठाकर धरती को निश्चिन्तहीन बनाने का प्रण करनेवाले राम, राक्षसराज रावण के वध का उपक्रम तब तक नहीं करते जब तक—

सो दशशीश श्वान की नाई।
इत उतचितइ चला भड़िहाई॥

का दृश्य प्रस्तुत करते हुए अपने को कुत्ते के जैसे चोर के रूप में उपस्थापित नहीं कर देता। स्तेन (चोर) की पहचान करके उसके विनाश के प्रयास में जुट जानेवाले राम की अस्तेय-बुद्धि का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण क्या हो सकता है?

इसी तरह— 'सकल शौच करि जाइ नहाये। नित्य निबाहि मुनिहिं सिर नाये॥' जैसे स्थलों में श्रीराम की शौचव्रत के प्रति निष्ठा देखी जाती है तो शूर्पणखा के प्रसंग में वे इन्द्रियनिग्रही के रूप में देखे जा सकते हैं। सुग्रीव के साथ मैत्री, पूर्वशत्रु बालि के पुत्र अंगद को शरणागति-प्रदान तथा शत्रु के सगे भाई विभीषण के प्रति विश्वास-जैसे प्रसंगों में राम की बुद्धिमत्ता के जो दर्शन होते हैं वे धर्म के सातवें लक्षण 'धी' के द्योतक हैं।

राम में विद्या (ज्ञान) का वह तीव्र प्रकाश है जो शिवप्रिया सती के द्वारा संवाहित अविद्या के कुहरे को क्षण भर में फाड़कर रख देती है। जो त्रिकाल-सत्य वेदादि धर्म-शास्त्रानुमोदित सनातन-सत्य धर्म के साँचे में स्वयं ढलकर निरन्तर उसके रक्षण में तत्पर है उसके तुल्य सत्य-व्रती दूसरा कौन हो सकता है?

धर्म के दसवें लक्षण अक्रोध के पालन में भी राम अतुलनीय हैं। राम का जीवन क्रोध-विरोधी भावों से परिपूर्ण है। जो आजीवन दया, करुणा, प्रेम, सौहार्द और सौजन्य की दुनिया की रचना करते हुए कभी अहल्या-उहार, कभी स्वयं वन-गमन, कभी निषादराज-जैसे उपेक्षित जन से प्रीति, कभी सुग्रीव से मैत्री, कभी हनुमान् के प्रति अकूत स्नेह-प्रदान और कभी शबरी के जूटे बेर का आस्वादन-जैसे मृदुल भावना-भावित कार्यों को अंजाम देने में लगे रहते हैं जैसे राम में अक्रोध भाव का समाविष्ट होना स्वतः सिद्ध है। यदा-कदा प्रस्फुरित होनेवाला राम का क्रोध भी अधर्म और अधार्मिकों पर अंकुश लगानेवाला होने के कारण परम रमणीय तथा लोकहितकारी है। भगवती राजराजेश्वरी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी ने भी तो समष्टि के समग्र क्रोध से बने अंकुश को ही न अपने हाथ में धारण किया है— **क्रोधाकारांकुशोज्ज्वला** (ललिता सहस्रनाम)।

युतावता, राम का विग्रहवान् धर्म होना सुसिद्ध है। धर्म-स्वरूप होने कारण ही राम न केवल परम मंगलमय अपितु परम मंगलकारी भी हैं। तुलसीदास ने कहा है—

मंगलभवन अमंगलहारी।

द्रवहुँ सो दशरथ अजिरबिहारी।।

दशरथ-अजिरविहारी श्रीराम सत्यात्मक धर्म के साक्षात् स्वरूप होने के कारण 'सत्यम्' हैं। उनका चरित्र लोकमंगलकारी और सकल अमंगलहारी है अतः वे 'शिवम्' हैं। वे सुन्दर तो इतने हैं कि अपने स्वरूप की परम रमणीयता, दिव्यता और अलौकिकता पर स्वयं मुग्ध होकर नाचने लगते हैं—

रूपराशि नृप अजिर-बिहारी।

नाचहिं निज प्रतिविम्ब निहारी।।

वेद से लेकर अठारहों पुराणों, उपपुराणों तथा रामायण शतकोटि अपारा में परिगणित ग्रन्थों

में, जो न केवल भारत की ही धरोहर हैं अपितु विश्व के अन्य देशों में भी जिन्हें विशिष्ट सम्मान प्राप्त है; राम के इसी रूप के दर्शन होते हैं। इसी अर्थ में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है—

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।

कोई कवि बन जाय सहज सम्भव्य है।।

(साकेत)

वस्तुतः काव्य का प्रतिपाद्य विषय यदि 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' है तो राम से बढ़कर काव्य का दूसरा विषय क्या हो सकता है?

राम के नाम, रूप, लीला और धाम ये चारों समान भाव से सम्माननीय और पूजनीय हैं; ऐसा योगवासिष्ठ का वचन है। भारतीय आस्था भी ऐसी ही है कि इनमें से किसी को भी एक दूसरे से उन्नीस नहीं माना जाता।

पहले हम राम के नाम को ही लें। राम शब्द में र+आ+म ये तीन अक्षर हैं जो क्रमशः अग्निबीज, सूर्यबीज और चन्द्रबीज के अक्षर हैं। अग्निबीज 'र' समस्त पापों को भून डालता है तो आदित्यबीज या सूर्यबीज 'आ' परम प्रकाश द्वारा अज्ञान को भगाकर ज्ञान का विमल प्रकाश विखेर देता है। इन दोनों प्रक्रियाओं के पूर्ण होते ही चन्द्रबीज 'म' परम आह्लाद, परम सुख या परमानन्द की सृष्टि करके मनुष्यमात्र को ही नहीं, कीट, पतंगादि तक को कृतकृत्य कर देता है। इसीलिए 'राम' को महामन्त्र कहा गया है और काशी में मरनेवाले जीवमात्र को इसी महामन्त्र का उपदेश स्वयं बाबा विश्वनाथ दिया करते हैं।

महामन्त्र की श्रेणी में तीन मात्र आते हैं। इनमें पहला है गायत्री मन्त्र। दूसरा मन्त्रराज है— राजराजेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी का पंचदशाक्षरी मन्त्र और तीसरा है यही 'राम' मन्त्र। गायत्री के प्रथम पाद और पंचदशाक्षरी के प्रथम कूट के भी अधिष्ठाता अग्नि हैं, द्वितीय पद (गायत्री के) और द्वितीय

कूट (पंचदशाक्षरी के) अधिष्ठाता सूर्य और तृतीय पद (गायत्री के) तथा तृतीय कूट (पंचदशाक्षरी) के अधिष्ठाता सोम या चन्द्रमा हैं। ऐसी स्थिति में महामन्त्र गायत्री और मन्त्रराज पंचदशाक्षरी से जो प्रयोजन सिद्ध होता है वही प्रयोजन मात्र 'राम' इस अति सुगम मन्त्रराज से होता है। यही कारण है कि स्वयं देवाधिदेव महादेव भी उन कर्मकाण्ड के जंजाल से घिरे, अनेकानेक शापों से अभिशाप्त तथा बिना गुरुदीक्षित हुए प्रयोग करने पर हानि तक करनेवाले मन्त्रों को छोड़कर इसी मन्त्र का जप करते हैं। कहा भी गया है—

मन्त्रराज जेहि जपत महेशू।

काशी मरत करत उपदेशू॥

वस्तुतः सभी मन्त्रों को छोड़कर चौंसठ तन्त्रों एवं सहस्रों शाबर मन्त्रों के प्रणेता भगवान् शिव का 'राम' महामन्त्र का जप करना मात्र इस उद्देश्य का सूचक है कि सभी त्रैलोक्यवासी जीव इस सुगम मन्त्र से लाभान्वित हों। उनके इस पवित्र उद्देश्य की पुष्टि गीता के इस श्लोक से होती है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीताः ३.२९)

अर्थात् महान् पुरुषों का जैसा-जैसा आचरण होता है उन्हीं का अनुसरण इतर व्यक्ति हैं। वे श्रेष्ठ पुरुष जिसको प्रमाण मानते हैं दुनिया उसी का अनुसरण करती है।

भगवान् शिव के उपर्युक्त उद्देश्य का प्रतिफलन भी संसार भर में पर्याप्त रूप में दृष्टिगोचर होता है। भारतीय संस्कृति में तो बालक के जन्म काल में राम जन्म से सम्बन्धित सोहर के गायन से लेकर मृतक की अर्धी उठाते समय 'राम नाम सत्य है' के उच्चारण तक डेग-डेग पर राम आते हैं, राम की लीलाएँ आती हैं, राम का नाम आता है। राम को हमने इतना आत्मसात् कर लिया है कि

तिलकोत्सव के अवसर पर तिलक चढ़वाने के लिए चौक पर बैठता तो है दूल्हा किन्तु गाया जाता है— "आवसु राम चौक चढ़ि बैठसु।" आश्चर्य तो यह कि भगवान् शिव के राम, आदिकवि वाल्मीकि के राम, तुलसी के राम, कबीर के राम और गांधी के राम में परस्पर भिन्नता है किन्तु हैं सबके सब 'राम' ही। भिन्नताओं में इस अनोखी युक्ता को देखकर विश्वास करना पड़ता है कि इस सम्बन्ध में नारदजी ने भगवान् श्रीराम से जो चाहा वही हुआ—

राम सबन नामन ते अधिका।

होहिं नाथ अघ खग गन बधिका॥

क्या विचित्र जादू है 'राम' शब्द के तीन अक्षरों में जिनके उलटा उच्चारण से बहेलिया ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता हो और कोई— गणिका सुग्गे को पढ़ाते-पढ़ाते मरती है तो उसका उद्धार हो जाता है। और तो और, कोई विधर्मी मलत्याग करते समय सूअर से छू जाता है और धृणा-भाव से 'हराम-हराम' कहता है तो उसे भी मुक्ति मिल जाती है। ऐसा रामनाम विश्व-संस्कृति की परिकल्पना को साकार करने में क्यों न आधारशिला का स्थान पाएगा?

राम का रूप भी अनूप है। सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से अच्छाई में ही सुन्दरता है। धर्म अच्छा है, शुभ है, मंगलकारी है अतः वह सुन्दर है। राम शरीरधारी धर्म हैं अतः वे भी सुन्दर हैं, अतीव सुन्दर हैं। वे इतने सुन्दर हैं कि सौन्दर्य की नित्य नव नवायमानता को देखकर स्वयं मुग्ध हो जाते हैं, त्रिशिरा और सुबाहु उनपर अस्त्र-शस्त्र चलाने में ठिठक जाते हैं, और तापस वेष में भी उन्हें देखकर ग्राम वधूटियाँ अपलक निहारती ही रह जाती हैं। राजा जनकजी के यहाँ विवाह के उपरान्त बरात भोजन पर बैठी हुई है, जनकपुर की नारियाँ अटारी पर चढ़कर 'गारी' गा रही हैं। 'गारी' में वरपक्ष पर ही हमले-पर-हमले हो रहे

हैं। हमले आखिर हमले ही हैं रणभूमि के हों या रंगभूमि के। लक्ष्मण को ये कब सुहाते? भाई राम की ओर साभिप्राय दृष्टि डालते हैं। राम ने भाव समझ लिया। कुछ किया नहीं। सिर्फ ऊपर की ओर अपनी आँखें उठाकर देख भर लिया। बस, इतना काफी था। आँखों का जादू गवनिहारिणों के मन-मस्तिष्क पर छा गया। अब वे क्या करती हैं इसे नीचे के सवैये में देखें—

आनु की बात सुनीं सजनी, मड़वा में भयो एक कौतुक भारी।
जेवन बैठी बरात जभी सब नारि चढ़ीं मिथिलेश-अटारी।।
राम के रूप निहारत ही मति विभ्रम सो भई गवनिहारी।
भूलि गई अवधेश को नाम ओ देन लगी मिथिलेश को गारी।।

भगवान् राम का तन श्याम तो है किन्तु वह न अकेले नील सरोरुह (नीलकमल)-जैसा है, न अकेले नीलमणि (नीलम)-जैसा है और न अकेले नील नीरधर (बादल)-जैसा है। नील सरोरुह की कोमलता और रमणीयता, नीलमणि को कान्ति और नील नीरधर की सुखप्रद शीतलता से राम के तन की श्यामता पूर्णतः परिपूरित है। श्रीराम के लुभावन, मनभावन और पावन रूप के अवलोकन के लिए ही न गाँव-गाँव में, ठौर-ठौर पर अपने देश में और विदेशों में भी जो ठाकुर बाड़ियाँ बनाई जाती हैं उनमें प्रतिदिन 'सांगोपांग'-पूजा तो की जाती है शालग्राम की किन्तु सविधि प्राण-प्रतिष्ठापित लक्ष्मण, सीता और हनुमान् के साथ राम की मनोरम मूर्ति की भावभीनी पूजा करके भक्तजन विभोर हो जाते हैं। गाँवों और शहरों के असंख्य आस्तिक जन तो इतने निष्ठावान् होते हैं कि जब तक ठाकुरबाड़ी का घंटा-घड़ियाल नहीं बजता तब तक अपने घर पर भोजन नहीं करते।

नाम और रूप की तरह भगवान् राम की मधुर, मनोहर, मंजुल और मंगलमय लीला भी उतनी ही सम्माननीय और पूजनीय है जितने धर्म स्वरूप श्रीराम हैं। राम-परक ग्रन्थों को देखने से यह पाया जाता है कि जो भी रामकथा के कथावाचक

हैं— अगस्त्य, याज्ञवल्क्य, भगवान् शिव और काकभुशुण्डि— सब-के-सब राम को नहीं, राम के चरित को, उनकी लीलाओं को प्रणाम करके क्रमशः शिव, भरद्वाज, भगवती, पार्वती और गरुड़देव-जैसे ज्ञानवान्— श्रोताओं को राम की कथा सुनाते हैं।

वस्तुतः राम-जन्म का एक कारण यह भी है कि वे जगत् में अपने विमल यश का विस्तार करें जिनके श्रवण से लोक का परम कल्याण हो सके। समस्त संसार के जीवों के लिए 'रामकथा मन्दाकिनी' के सदृश उपकारी है। मन्दाकिनी की—पतितपावनी गंगा की तुलना रामकथा से करने का तात्पर्य यह है, जैसे गंगा सबके कल्याण के लिए खुली हुई हैं, उसमें कहीं किसी के लिए कोई रोक-टोक नहीं है उसी तरह रामकथा के अधिकारी विश्व के सभी प्राणी हैं। विश्व में कोई भी ऐसा मत, पन्थ या सम्प्रदाय नहीं है जो राजेश मुहम्मद-जैसे उपदेशक को स्वीकृति प्रदान करे जो मानते हैं इस्लाम किन्तु कथा सुनाते हैं राम की। वस्तुतः वह ऐसों के लिए भी कल्याणप्रद है। वर्णबाह्य और वेदबाह्य को कौन कहे मानव-योनि-बाह्य कौए और गरुड़-जैसे तिर्यक् योनि के जीवों के लिए भी रामकथा इहलोक और परलोक के लिए एक सुखद साधन है। इसीलिए कथाश्रवण को नवधा भक्ति में प्रथम स्थान प्राप्त है। यही कारण है कि जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, हिन्देशिया, श्याम, अनाम आदि पूर्वी हिन्द के टापुओं में, जहाँ मुसलिम आबादी ही अधिक है, रामलीला बड़ी श्रद्धा से देखी जाती है।

भगवान् राम का धाम अयोध्या है। वह हम सभी भारतीयों के लिए राम के समान ही प्यारी है पूजनीय है, वन्दनीय है। अयोध्या में वास करना राम की सन्निधि में वास करने के समान माना जाता है। चार प्रकार की मुक्तियों में 'सन्निधि' भी एक है जो— अयोध्या में रहनेवालों को सहज ही प्राप्त हो जाती है। अगस्त्य ऋषि ने पूर्वी हिन्द के

तापुओं में जब धर्म का प्रचार-प्रसार किया तब थाइलैण्ड में एक नई अयोध्या भी बसाई जिसे आज भी 'अजुध्या' कहा जाता है और एक पावन स्थल के रूप में माना जाता है। जैसे काशी ही शिव हैं और शिव ही काशी हैं उसी तरह अयोध्या ही राम है और राम ही अयोध्या हैं यह इस लिए कि अयोध्या राम की जन्मस्थली है।

प्रसंगवश यहाँ इस बात की चर्चा आवश्यक हो जाती है कि इस जन्मस्थली पर भगवान् श्रीराम का एक दिव्य भव्य मन्दिर था जिसे राम जन्मभूमि मन्दिर कहा जाता था। आज से ५०० वर्ष पूर्व मुगल बादशाह बाबर ने ध्वस्त करवाकर वहाँ मस्जिद-जैसा एक ढाँचा खड़ा करवा दिया। तब से उस स्थान पर पुनः मन्दिर निर्माण के लिए अनेक संघर्ष होते आए जिसमें लाखों रामसेवकों का बलिदान हुआ। अन्त में १९६२ के ६ दिसम्बर को असंख्य रामसेवकों ने वहाँ जाकर उसे ध्वस्त किया और वहाँ पुनः राम-जन्मभूमि मन्दिर-निर्माण का संकल्प लिया। जिस भूमि के दर्शन और वहाँ पर वास करने मात्र से मत, महजब और पन्थ से निरपेक्ष में मानव-मात्र का परम कल्याण सुनिश्चित है वैसी भूमि की स्वाभाविकता के साथ खिलवाड़ करना हिन्दुओं से नहीं समग्र मानवता से द्वेष करना है। इस परिप्रेक्ष्य एक तो मन्दिर तोड़कर बाबर ने महान् अनर्थ किया दूसरे अब वहाँ पुनः पूर्ववत् मन्दिर के निर्माण में आड़े आनेवाले लोग

भारतीय संस्कृति जो एक मात्र विश्वसंस्कृति के पद पर आसीन होने के काबिल है के परम शत्रु सिद्ध हो रहे हैं।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि राम के जीवन का हर आयाम अपने आप में परम है। राजा के रूप में उन्हें देखनेवालों ने कहा— 'रामो राज मणिः सदा विजयते'— राजाओं में मणि के तुल्य राम की सदा विजय हो। गीता ने उन्हें शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ मानते हुए कहा— 'रामः शस्त्रभृतामहम्।' एक जगह योद्धा के रूप में उन्हें सार्वश्रेष्ठ बताते हुए कहा गया 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव'— रावण जैसे योद्धा के साथ राम का युद्ध भी बेजोड़ था। किसी ने कहा— 'रामो द्विर्नाभिभाषते'— राम कभी अपना बयान नहीं बदलते। शिव ने पार्वती से कहा— 'सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने'— अर्थात् एक बार रामनाम लेना अनेक सहस्र नामों के पाठ के बराबर है। किन्तु इन सभी के मूल में जो इकलौता तथ्य है वह यह है कि 'रामो विग्रहवान् धर्मः'— अर्थात् राम शरीरधारी धर्म हैं।

जय श्रीराम।

ललिता-निकेतन,
कोरान सराय (बक्सर),
८०२१२६



फलानां च दलानां च सन्तु ते ते विवेचकाः।
मकरन्दविशेषज्ञो मिलिन्दमपहाय कः॥

फलों और फूलों के बारे में विवेचन करनेवाले अनेक लोग होंगे, लेकिन मधु के बारे में भौरों के सिवा और कौन विवेचक हो सकता है।

ऋषि-संस्कृति और कृषि-संस्कृति

□ प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह

ऋषि-संस्कृति और कृषि-संस्कृति से तात्पर्य हमारी उस सनातन भारतीय संस्कृति से है, जिसने वैदिक युग से ही इस महान् राष्ट्र के निवासियों में आदर्श जीवन एवं श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। आज हमारे जो भी जीवन-मूल्य हैं; जीवन को जीने और संसार के प्राणियों तथा पदार्थों को देखने-समझने की जो भी हमारी शुभ दृष्टि है, वह हमारे ऋषियों-मुनियों, सन्त-महात्माओं एवं मनीषी-महापुरुषों और विपश्चित् विप्रों की श्रेष्ठ देन है। हमारी कृषि-संस्कृति की जो भी अच्छाइयाँ हैं, गृहस्थ-जीवन की जो भी विशेषताएँ हैं, वे सब ऋषि-संस्कृति द्वारा प्रदत्त हैं।

ऋषि-संस्कृति से तात्पर्य प्राचीन भारत के ऋषियों के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण और उनके चिन्तन-मनन से प्राप्त उस जीवन-नवनीत से है, जिसे अपनाकर हमारी कृषि-संस्कृति विकसित हुई है और एक अति विकसित मानव-समाज भारत की इस दिव्य एवं महीयसी भूमि पर सुप्रतिष्ठित हुआ है।

ऋषि-संस्कृति एवं कृषि-संस्कृति दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। एक सिद्धान्तपक्ष को महत्त्व देती है तो दूसरी उस सिद्धान्त को आचरण में प्रकट करती है। ऋषि-संस्कृति और कृषि-संस्कृति के समन्वय-सामंजस्य से निर्मित हमारी आर्य-संस्कृति ही आज विश्वमानव-समुदाय को अतिभौतिकता, अतिसांसारिकता एवं अतियान्त्रिकता के दंश से बचा सकती है, इसे ही दिखाना यहाँ उद्देश्य है।

सबसे पहले हम संस्कृति शब्द को देखें। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है। 'कृ'

धातु में 'सम्' उपसर्ग एवं 'सुट्' आगम होकर 'कित्' प्रत्यय लगाने से संस्कृति शब्द बनता है। संस्कार और संस्कृत शब्द भी संस्कृति के समान ही हैं। संस्कार से युक्त व्यक्ति को संस्कृत या सुसंस्कृत कहा जाता है। जिसका संस्कार-परिष्कार किया गया हो, वह संस्कृत कहलाता है। संस्कृति का अर्थ है जाति-विशेष या राष्ट्र-विशेष का संस्कार; उसका रहन-सहन, आचार-विचार, चिन्तन-मनन, कला-साहित्य, जीवन जीने का ढंग आदि। इसके अन्तर्गत राष्ट्र-विशेष या जाति-विशेष के लौकिक, पारलौकिक, सामाजिक आदि सभी दृष्टिकोण आ जाते हैं। अतएव संस्कृति एक बड़ा ही व्यापक शब्द है। जीवन की विधुद्ध जय-यात्रा ही संस्कृति है। इसीलिए संस्कृति जीवन्त और गतिशील होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जाति-विशेष का सम्यक् संस्कार ही, उसका परिष्कार ही संस्कृति है।

हमारी संस्कृति इतनी व्यापक, विस्तृत और विशाल है कि इसमें धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, रहन-सहन, खान-पान, चिन्तन-मनन, आचार-विचार सभी का समावेश है। यह पतितपावनी गंगा की वह शाश्वत-सनातन धारा है, जो वेदरूपी गोमुख-गंगोत्री से निकलकर सबको समेटती-सँवारती हुई, संस्कारित करती हुई निरन्तर प्रवहमान है।

ऋषि-संस्कृति हमारे राष्ट्र का प्राण-तत्त्व है। इसका मूलाधार वेद है। उपनिषदें, स्मृतियाँ, पुराण, रामायण, महाभारत, इतिहास तथा लोकप्रचलित मान्यताएँ समय-समय पर मिलनेवाली छोटी-बड़ी नदियाँ हैं, जो इस संस्कृति-गंगा को गतिशील,

विराट् और विशाल बनाती हैं। वैदिक काल से लेकर महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास तथा मनु आदि श्रेष्ठ महापुरुषों और स्मृतिकारों तक ने अपने चिन्तन-मनन से, तप और साधना से ब्रह्म, माया, सृष्टि और जीवन-सम्बन्धी जो उदात्त, उदार एवं महान् विचार दिये तथा जिन्हें अपनाकर भारत-भू के जन-समुदाय ने अपने जीवन जीने का जो ढंग अपनाया, वही भारतीय संस्कृति या आर्य-संस्कृति या हिन्दू-संस्कृति के नाम से विख्यात-सुख्यात है।

ऋषियों और कृषकों ने, साधु-सन्तों और गृहस्थों ने बड़ी साधना से इस आर्य-संस्कृति का, महनीय भारतीय संस्कृति का रूप खड़ा किया है। इस दिव्य एवं महनीय भारतीय संस्कृति के दो प्रधान घटक हैं— ऋषि और कृषक; साधु-सन्त एवं गृहस्थ। इनमें भी ऋषि-मुनियों का उदात्त चिन्तन एवं मंगलमय आचरण ही वह प्रमुख आधार-स्तम्भ है जिसपर हमारी संस्कृति का भव्य भवन सुस्थित है। ऋषि हमारी संस्कृति-काया के उर्वर एवं उन्नत मस्तिष्क हैं और कृषक हाथ-पैर हैं; ऋषि ज्ञान हैं, गृहस्थ कर्म एवं आचरण; ऋषि-मुनि सिद्धन्त हैं, कृषक व्यवहार। ऋषि-मुनियों ने जीवन की सही दिशा का निर्देश किया, मानव के गन्तव्य का, मानव-जीवन के लक्ष्य का पता बताया और गृहस्थों तथा किसानों ने उस सही दिशा पर चलकर अपने जीवन को धन्य बनाया, अपने नर-तन को सार्थक किया। संस्कृति का लक्ष्य आत्मा का उत्थान है, आत्मोन्नयन है और ऋषि-संस्कृति इसी आत्मोत्थान पर सबसे अधिक बल देती है। ऋषि प्रकाश हैं, ज्ञान के प्रकाश और गृहस्थ उस प्रकाश में अपने जीवन-पथ पर चलता है। उस दिव्य प्रकाश से अपने जीवन-पथ के लिए पाथेय प्राप्त करता है।

ऋषि-संस्कृति प्रकाश बाँटती है और कृषि-संस्कृति उस प्रकाश में जीवन की सही यात्रा करती है। ऋषियों ने अपने तप और त्याग से, संयम एवं

साधना से, चिन्तन तथा मनन से यह जान लिया था कि इस विराट् एवं असीम ब्रह्माण्ड का एक नायक है, एक निर्माता है। वह ब्रह्म है, वह अव्यय और अनन्त है, असीम और अगोचर है। वही परम ज्ञान है, वही परमेश्वर है, परम प्रकाश है, प्रकाश का अक्षय पुंज है। उसे ही जानना है, उसे ही पाना है। उसे ही प्राप्त कर जीव को मुक्त होना है, मृत्यु-सागर को निरापद करना है। अपनी धीर-गम्भीर वाणी में यजुर्वेद के ऋषि ने, श्वेताश्वतरोपनिषद् के ऋषि ने उद्घोष किया—

“वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाथ”।।

(यजुर्वेदः ३१.१६, श्वेताश्वतरोपनिषद्ः ३.८)

मैं इस बड़े एवं महान् पुरुष-परमेश्वर को जानता हूँ। यह आदित्य-जैसा स्वयं प्रकाशवाला और अज्ञान-अन्धकार से बिल्कुल परे है। इसको ही जानकर मनुष्य मृत्यु को पार करता है।

परम पद पाने के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है। परमात्मा को प्राप्त करना जीव का एक मात्र लक्ष्य है। यह हमारी ऋषि-संस्कृति का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है। नारायण नामक एक साधु हुए हैं। उन्होंने भी कहा है कि मानव को दो बातों को अवश्य जानना चाहिए— एक भगवान् को और दूसरी अपनी मृत्यु को—

“दो बातन को भूल मत जो चाहसि कल्याण।

नारायण एक मौत को दूजे श्री भगवान”।।

हमारे ऋषियों-मुनियों तथा सन्तों-महात्माओं ने बार-बार अपने अनुभव से बताया है कि मानव-जीवन में सच्चा सौदा करना चाहिए। सच्चा सौदा क्या है— परमात्मा को प्राप्त करना। वह साधन या सौदा जिससे परमात्मा प्रभु की प्राप्ति होती है। सन्त कबीरदासजी कहते हैं—

“साँचा सउदा कीमिय, अपने मन मो जानि।

साँचे हीरा पाइय, झूठे मूलहु हानि।।”

सन्त कबीर की मान्यता है कि अपने मन में खोज-पहचानकर सच्चा सौदा करो। सच्चे हीरे को पा लो, क्योंकि झूठ में केवल हानि-ही-हानि है। सच्चा सौदा वह है, जिसका नाश नहीं होता। वह अविनाशी परमात्मा ही है। इसी सच्चे सौदे से हीरा-सदृश परमात्मा मिलेगा। उसी को जानकर, पाकर जाव भवसागर को निरापद पार कर सकता है। सन्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं—

“स्वार्थ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा।
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भणिय रघुबीरा॥”

(रामचरित-मानसः ७.८५.१, २.)

कृषि-संस्कृति में निवास करनेवाले, सद्गृहस्थ-जीवन जीनेवाले, भारत के गाँवों में बसनेवाले मनुष्य ऋषियों, मुनियों एवं सन्त-महात्माओं द्वारा उपदिष्ट और व्यक्त विचारों, सिद्धान्तों एवं ज्ञानानुभवों के आलोक में प्रकाश के पथ पर चलकर मृत्यु के बन्धन से, जन्म-मरण के जाल से छुटकारा पाने का प्रयास करते रहे हैं।

इस प्रकार ऋषि-संस्कृति और कृषि-संस्कृति एक दूसरे की पूरक हैं। इन दोनों में आधार-आधेय भाव-सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति की पूर्णता दोनों के समन्वय-सामंजस्य में ही है। विचार और आचार का समन्वय-संयोजन ही श्रेष्ठ संस्कृति की पहचान है। हिन्दू-संस्कृति की श्रेष्ठता एवं उसकी उत्कृष्टता का वैशिष्ट्य इसी ऋषि-संस्कृति एवं कृषि-संस्कृति के समन्वय में निहित है। तभी तो आज का भौतिकवादी संसार बड़ी आशा से आर्य-संस्कृति की ओर दृष्टि डाले मानवता की दिशा में चलने को आतुर-आकुल दिखाई पड़ता है।

हमारी कृषि-संस्कृति की एक अपनी पहचान है। इसमें बीज, प्रसव, वृद्धि की समृद्धि, सरलता, सम्पन्नता, समर्पण, सेवा, सत्कार, श्रद्धा, विश्वास, आस्था, पवित्रता, त्याग आदि की प्रधानता होती है। कृषक गृहस्थ होता है, गृह में स्थित होता है।

उसका घर-संसार होता है; परिवार, परिजन-पुरजन होते हैं। उसके यहाँ अतिथि आते हैं; साधु-सन्त आते हैं; याचक और आर्त आते हैं। गृहस्थों और किसानों के मन में इन सबके प्रति पूज्य बुद्धि होती है; देव-बुद्धि होती है; श्रद्धा का पूत भाव होता है। अतएव कृषि-संस्कृति में इन सबके भरण-पोषण एवं स्वागत-सत्कार के लिए अन्न-वस्त्र और धन-धान्य की नितान्त आवश्यकता होती है। किसान अपने श्रम से इन सभी आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करता है। वह अपने पुरुषार्थ से, पौरुष और पराक्रम से, पवित्र सेवा-भाव से पृथ्वी माता की गोद में बैठकर; उनकी पूजा-आराधना कर; सेवा-सत्कार कर इन सारी वस्तुओं को सुलभ करता है। वह ऋषियों के बताए मार्गों पर चलकर माता, पिता, गुरु (आचार्य) और अतिथि को देवता मानकर उनके प्रति अपना सम्मान और श्रद्धा व्यक्त करता है—

“मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।”

(तैत्तिरीयोपनिषद्ः वल्लीः १.११)

इसी उपनिषद् में “सत्यं वद। धर्मं चर।”

का जो उपदेश ऋषि ने दिया है, सद्गृहस्थ इसी का पालन करता है। कृषकों की सेवा से, गृहस्थों के सुकर्म से धरती माता प्रसन्न हो उठती है। वात्सल्यमयी एवं ममतामयी माँ अपनी सन्तानों को जैसे अपना रक्त दूध में परिणत कर, अपनी छाती फाड़कर प्रदान करती है, उसी प्रकार पृथ्वी माता भी अपनी सन्तानों को अपनी छाती फाड़कर अन्न, वस्त्र, दुग्धादि सभी जीवनोपयोगी वस्तुएँ प्रदान करती है। धरती माता के प्रति यह गहरा लगाव ऋषि-संस्कृति की ही बहुमूल्य देन है। अथर्ववेद के ‘पृथ्वीसूक्त’ में ऋषियों ने धरती को माता और उसपर निवास करनेवाले मनुष्यों को

उनकी सन्तान कहकर इसी भावना को व्यक्त किया है— “माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।” भूमि हमारी माता है और हम उसकी सन्तान हैं।

इसी प्रकार ऋग्वेद संहिता में कहा गया है— “माता पृथिवी महीयम्।” यह विस्तृत पृथ्वी हमारी माता है। सचमुच धरती ही कृषि-संस्कृति का, गृहस्थ-जीवन का आधार है। इस आधार के प्रति गहरा लगाव ऋषि-संस्कृति ने ही प्रदान किया है। धरती के प्रति हमारी गहरी सम्पृक्ति और आत्मीयता का भाव ऋषियों ने ही हमें दिया है। महर्षि वाल्मीकि ने आदिकाव्य रामायण में भगवान् श्रीराम के मुख से ही कहलवाया है—

“अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥”

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने रामचरितमानस में भगवान् के श्रीमुख से ही कहलवाया है—

“सुनु कपीस अंगद लकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥

अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानि कोउ कोऊ॥

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिशि बह सरजू पावनि॥”

(रामचरितमानसः ७.३.२-५.)

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषि-संस्कृति एवं कृषि-संस्कृति ने ही मिलकर महनीय भारतीय संस्कृति, जिसे आर्य-संस्कृति या हिन्दू-संस्कृति कहते हैं, का दिव्य एवं भव्य रूप निर्मित किया है। यह संस्कृति ही विश्व-मंगल एवं विश्व-मानवता का आधार-स्तम्भ हो सकती है। प्रेम, करुणा एवं श्रद्धा की पावन त्रिवेणीधारा प्रवाहित कर हमारे वैदिक ऋषियों ने जिस उदात्त एवं मंगलमय मानव-समाज का इस महीयसी धरती के वक्ष पर आधार रखा, वही हिन्दू-संस्कृति आज समस्त संसार के लिए अनुकरण और आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है।

मानव का मानव के प्रति प्रेम, श्रेष्ठ एवं दिव्य सत्ता के प्रति श्रद्धा तथा परमात्मा की जीव के लिए करुणा—यही त्रिवेणी-संगम भारतीयता की पहचान है और यही उच्च मानवता का प्रतीक है। इसी शीतल, संवेदना एवं सद्भाव के वशीभूत होकर ऋषियों ने इस दिव्य संस्कृति-संजीवनी को अपने श्रेष्ठ चिन्तन के बल पर सर्वोच्च मस्तिष्क-शिखर से इस धरती पर उतारा था, जिसे अपनाकर भौतिकता के विष से मूर्च्छित आज का मानव जीवन-लाभ कर सकता है। ऐसी है यह दिव्य, अमृतमयी, अपूर्व, अप्रतिम ऋषि-संस्कृति। अन्धकार को प्रकाश में बदलने, असत् को सत् की दिशा देने और मृत्यु को अमृतत्व प्रदान करने की आकुल पिपासा आर्य-संस्कृति की वह श्रेष्ठ देन है, जिसे अपनाकर आज का मानसिक दृष्टि से बीमार संसार स्वस्थ और सानन्द हो सकता है। इसीलिए तो मृत्यु-भय से मुक्ति का मन्त्र देते हुए ऋग्वेद के ऋषि ने परम सत्ता से प्रार्थना की थी—

“त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।

उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥”

(ऋग्वेदः ७.१६.१२.)

सुष्ठु गन्ध एवं सौन्दर्यवाले और पुष्टि बढ़ानेवाले त्र्यम्बक देव का, संसार के तीनों लोकों के अधिद्रष्टारूप माता का हम यजन करते हैं। जिस प्रकार लता-बन्धन से डाली में पका हुआ कर्कटीफल (तरबूज) स्वयमेव अलग हो जाता है, उसी प्रकार हम मृत्यु से, मृत्यु-भय से मुक्त हो जायँ, किन्तु अमृत से कभी नहीं।

इस दिव्य ऋषि-संस्कृति की एक देन ऐसी है कि वैदिक ऋषियों ने तप और दीक्षा से लोक-कल्याण हेतु राष्ट्र-देवता की, समाज-देवता की बड़ी उदात्त कल्पना की। उन्होंने व्यक्तिगत शक्ति से भी ऊपर एक ऊँची और बड़ी उत्कृष्ट शक्ति की खोज की। ऋषि आत्मकामी थे, पूर्णकाम

थे। उनमें कुछ भी स्वार्थ न था, संकुचितता-संकीर्णता का नामोनिशान न था। इसलिये उन्होंने भद्रकामना का विस्तार किया, शुभ और मंगल की दिशा का सन्धान किया। क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर अपनी दृष्टि का विस्तार करते हुए वे समष्टि-हित को ही अपने जीवन का लक्ष्य बताते हुए परम सत्ता की प्राप्ति की ओर बढ़ते रहने का सन्देश देते रहे। समस्त प्राणियों में, सभी पदार्थों में एक ही परम तत्त्व का दर्शन ऋषि-संस्कृति का ऐसा वैशिष्ट्य है, जो विश्व में अन्यत्र बहुत कम स्थलों पर देखने को मिलेगा। समत्व का यह दर्शन सबसे अधिक श्रीमद्भगवद्गीता में देखने को मिलता है। बाह्य दृष्टि नहीं, ज्ञानमयी दृष्टि, जिसे दिव्य भी कह सकते हैं, सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन की आधारशिला है और इसी को हमारी ऋषि-संस्कृति ने विश्व-मानव-समुदाय को दिया है। एक सर्वभूतात्मक भाव का विकास सत्य का करुणा के साथ संयोजन करता है, इस सत्य को ऋषि-संस्कृति ही प्रकट कर सकी है। इसीलिये ऋषियों ने अपनी भद्र कामना का विस्तार करते हुए राष्ट्रदेवता के रूप में एक भव्य एवं दिव्य मूर्ति निर्मित की। इसके लिए भी उन्हें घोर तप करना पड़ा। राष्ट्र की उत्पत्ति तप-रूपी पिता और दीक्षा-रूपी माता से हुई। 'अथर्ववेद' में इस आशय का एक मन्त्र मिलता है—

“भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे।

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं, तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥”

(अथर्ववेदः १६.४१.०१.)

(स्वर्विदः) आत्मसुख प्राप्त किये हुए (ऋषयः) ऋषियों ने (भद्रम् इच्छन्तः) लोक-कल्याण की इच्छा करते हुए (अग्रे) प्रारम्भ में (तपउपनिषेदुः) तप का अनुष्ठान किया और (दीक्षां उपनिषेदुः) दीक्षा को ग्रहण किया। (ततः) उस तप और दीक्षा से (राष्ट्रजातं) राष्ट्र उत्पन्न हुआ (बलम् ओजश्च जातं) तथा राष्ट्रीय बल और ओज

भी उत्पन्न हुआ। (तत्) इसलिये (अस्मै) इस राष्ट्र के सामने (देवाः) देवता भी (उपसंनमन्तु) ठीक प्रकार झुकें, सत्कार करें।

कितना उदात्त भाव भरा है इस मन्त्र में! व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र— एक-एक सोपान ऊपर उठते हुए वैदिक ऋषियों ने अन्त में समष्टि-हित की बात की और तब एक परम तत्त्व को सारी सृष्टि में फूलों की माला में सूत्र की भाँति विद्यमान देखा।

समाज और राष्ट्र का निर्माण ऋषियों की घोर तपस्या और दीक्षा का परिणाम है, ताकि मनुष्य एक सुखी, समृद्ध और सुरक्षित जीवन जी सके। ऋषियों ने वाग्देवी की उपासना से, उनकी कृपा से भारत में एक ऐसी सर्वमंगला संस्कृति विकसित की जो मानव की सही और शुद्ध जीवनयात्रा को चारितार्थ कर सके। गृहस्थ जीवन तथा कृषक-संस्कृति की आधारशिला वैदिक ऋषियों ने ही रखी। यह वह संस्कृति बनी जिसमें सृष्टि के पश्चात् पुष्टि और तुष्टि के साथ-साथ मुक्ति की कामना की गई। इस महार्घ एवं महनीय संस्कृति में इहलोक और परलोक दोनों को महत्त्व दिया गया; शरीर और आत्मा दोनों की महत्ता स्वीकार की गई। भोग और योग के सम्पुट में इस संस्कृति को सुरक्षित रखा गया। इस संस्कृति में ज्ञान और कर्म को भक्ति से जोड़कर एक सात्त्विक-संयमित जीवन को विश्व-मानव-समुदाय के समक्ष रखा गया ताकि मानव-जाति की जय-यात्रा निरापद रह सके। ऐसा महनीय और मंगलमयी संस्कृति है यह आर्य-संस्कृति। इस आर्य-संस्कृति के दो प्रधान घटक हैं— ऋषि-संस्कृति और कृषि-संस्कृति। ऋषि-संस्कृति आत्मा है और कृषि-संस्कृति शरीर; एक ज्ञान है, दूसरा कर्म; एक आँख है, दूसरा पैर।

ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा जिस सत्य का साक्षात्कार किया, गार्हस्थ्य धर्म एवं

कृषि-संस्कृति में उसी को आधार बनाकर जीवन की यात्रा शुरू की गई। ऋषि-संस्कृति में ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्रधानता है। इसीलिए ऋषियों ने बार-बार ऋतम्भरा प्रज्ञा की याचना की है। यह वह दृष्टि है, जिसके उदित होते ही प्रत्येक पदार्थ यथावत् दिखाई देने लगता है; संशय और भ्रम मिट जाते हैं और परम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। ऋषि-मुनि इसीलिए सरस्वती की उपासना कर ज्ञान प्राप्त करते, ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त करते और गृहस्थों को शुद्ध, सरल, सात्त्विक तथा विमल जीवन एवं धर्ममय जीवन जीने का सन्देश देते। वे बताते कि किस प्रकार भद्र से भद्रतर और भद्रतर से भद्रतम जीवन प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने उत्कृष्ट एवं शुभ जीवन जीने के लिए उद्योगशील बने रहने की प्रेरणा दी ऋषियों ने हमें बताया कि प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा मानव असम्भव को सम्भव में तथा अशुभ को शुभ में बदल सकता है। 'योगवासिष्ठ' में पुरुषार्थ की बड़े विस्तार से प्रशंसा करते हुए महर्षि वसिष्ठ ने कहा है—

“समुद्योगं समुत्सृज्य स्थिताः ये दैवकारणात्।
ते धर्ममर्थकामश्च नाशयन्त्यात्मविद्विषः॥”

(योगवासिष्ठ, मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण)

जो उद्योग छोड़कर दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे धर्म, अर्थ, काम को नष्ट करके अपने ही शत्रु बन जाते हैं।

इसी प्रकार 'पंचतंत्र' में भी कहा गया है—
“उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः”। इसप्रकार मानव-जीवन को पराक्रम-पुरुषार्थ से युक्त कर ऋषि-संस्कृति ने कृषि-संस्कृति को जीवन-यापन का श्रेष्ठ साधन बनाया।

ऋग्वेद के ऋषियों ने गृहस्थ-जीवन को सुन्दर, सबल, स्वस्थ, सुखी और श्रेष्ठ बनाने के

लिए नाना प्रकार के उपदेश दिए। उन्होंने श्रमशील जीवन को महत्त्व दिया—

‘न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।’

(ऋग्वेदः ४.३३.११.)

जो श्रम नहीं करता उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते।

आदर्श सामाजिक जीवन की आधारशिला एकता, सौमनस्य, सामंजस्य, सद्भाव आदि अपनी ओजस्वी वाणी में ऋषियों ने ही रखी। ऋग्वेद के ही एक ऋषि ने सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का गान एक मन्त्र में करते हुए बताया कि हे मनुष्यो! मिलकर चलो, अर्थात् आचरण करो, मिलकर बोलो, विवाद नहीं अपितु संवाद करो, तुम्हारे मन मिलकर ज्ञान प्राप्त करें अर्थात् तुम समान ज्ञानवाले होओ जैसे कि पहले से देव लोग मिलकर जानते हुए, एक-ज्ञान होते हुए भवनीय वस्तु की, अपने भाग की उपासना करते रहे हैं—

“संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथापूर्वं संजानाना उपासते॥”

(ऋग्वेदः १०.१९.०२.)

इन वैदिक ऋषियों ने ही गृहस्थों एवं कृषकों को अनेक बुराइयों से सावधान किया है और अच्छाइयों की ओर, भद्र भावनाओं की ओर चलते रहने का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा कि जुआ मत खेलो, खेती करो, कृषि-कार्य करो, अन्न उपजाओ। ऋग्वेद का एक मन्त्र जुआ आदि बुराइयों का त्याग कर ऋषि-कार्य हेतु समर्पित होने के लिए कितना उदात्त संदेश देता है—

“अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

तत्र गावः कितव तत्र जाया, तन्मे वि चरे सवितायमर्थः॥”

(ऋग्वेदः १०.३४.१३.)

हे जुआरी! जुआ खेलना बन्द कर, खेती कर। उसमें कम भी लाभ हो, फिर भी उसे बहुत समझकर प्रसन्न रह। खेती से ही तो तुझे गौएँ मिली हैं, पत्नी मिली है, ऐसा हमें भगवान् सूर्य ने कहा है।

गाय को वास्तविक धन बताना ऋषि-संस्कृति का ही रूप है। गाय ही मेरा धन है। अतः इन्द्र मुझे गाय प्रदान करें, ऐसा हमारे ऋषि कहते थे—

“गावो भगो, गाव इन्द्रो मे अच्छान्।”

(ऋग्वेदः ६.२०.०५.)

भारतवर्ष की इस महीयसी भूमि पर सृष्टि के प्रारम्भ में जो सभ्यता और संस्कृति प्रतिष्ठित एवं विकसित हुई, उसकी आधारशिला ऋषियों द्वारा रखी गई और कृषकों तथा सद्गृहस्थों द्वारा उसे विकसित किया गया। ऋषि वाग्देवी की उपासना करते, ज्ञान प्राप्त करते और कृषक तथा गृहस्थ लक्ष्मी की पूजा करते, अब्ज-धन प्राप्त करते; दुर्गा की आराधना कर शक्ति-संचय करते। ऋषिगण तप से शरीर को सुखाते और आत्म-बल को प्राप्त करते। कृषक श्रम एवं सेवा से शरीर-बल को प्राप्त करते। आत्म-शक्ति के लिए तप की आवश्यकता होती है; शरीर-शक्ति के लिए श्रम की अपेक्षा होती है। ऋषि और गृहस्थ (कृषक) आत्म-शक्ति तथा शरीर-शक्ति के प्रतीक हैं। प्रज्ञा और पुरुषार्थ, ज्ञान और कर्म उन दोनों का अद्वितीय समन्वय ही ऋषि-संस्कृति और कृषि-संस्कृति का वैशिष्ट्य है। प्रतिभा और पराक्रम के समन्वय से ही जीवन पूर्ण होता है। इसीलिए हमारी यह भारतीय संस्कृति ऋषि-संस्कृति तथा कृषि-संस्कृति के समन्वय-सम्मिलन से निर्मित संस्कृति है। आर्य-संस्कृति सुरुसृष्टि की सतत धावमान विमल धारा है, जिसके दो सबल, प्रबल एवं पुष्ट किनारे हैं— ऋषि और कृषक, सन्त और सद्गृहस्थ, महात्मा एवं महापुरुष, सन्त और सिपाही, ज्ञानी और भक्त। इन्हीं दोनों सबल किनारों के बीच से आर्य-संस्कृति की यह पावन गंगा हजारों-लाखों वर्षों से प्रवाहित होती चली आ रही और अपनी पावनता, शीतलता, सात्विकता, सेवा-भावना एवं मंगल-भावना से मानव-जाति एवं प्राणि-जगत् का कल्याण करती रही है।

ऋषि-संस्कृति सरस्वती को, ज्ञान और विद्या को महत्त्व देती है; कृषि-संस्कृति लक्ष्मी को, कर्म और सेवा को, श्रम और अब्जोपार्जन (धनोपार्जन) को महत्त्व देती है। इन दोनों को जोड़ती हैं काली, जो शक्ति के प्रतीक हैं। इसीलिए हमारी इस आर्य-संस्कृति में सरस्वती, लक्ष्मी और काली को दुर्गा के नाम से पुकारा जाता है। ऋषि-संस्कृति प्रकाश, प्रज्ञा और पुष्टि की संस्कृति है; कृषि-संस्कृति सेवा, सत्कार एवं सन्तुष्टि की संस्कृति है। दोनों संस्कृतियाँ मिलकर ही हमारे जीवन में सुख, समृद्ध, मधु और माधुर्य वितरित करती हैं; हमारे जीवन को पूर्ण प्रकाशमय और प्रज्ञामय बनाती हैं।

ऋषियों का आश्रम संन्यासाश्रम है, कृषकों का आश्रम गृहस्थाश्रम है। यह आश्रम शब्द भी ध्यान देने योग्य है। श्रम में ‘आ’ उपसर्ग लगाने से आश्रम शब्द बनता है। ‘आ’ का अर्थ होता है चारों ओर तथा श्रम का अर्थ है मेहनत, परिश्रम। अतः आश्रम का अर्थ हुआ चारों ओर श्रम, सर्वत्र श्रम। हमारी संस्कृति में चार आश्रम हैं। इनका तात्पर्य है जीवन की प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक स्थिति में श्रम करते रहना। आश्रम का एक अर्थ यह भी हो सकता है— आओ और श्रम करो या आकर श्रम करो। आश्रम मानो आमन्त्रण है श्रम का। बिना श्रम का आश्रम कैसा? अतः ऋषियों ने आश्रमों की प्रतिष्ठा श्रम के महत्त्व की दृष्टि से ही की।

हमारे महर्षियों ने बताया कि मानव-समुदाय का विकास श्रम से ही सम्भव है। संन्यासाश्रम भी श्रम को ही महत्त्व देता है। हम चाहे घर में रहें या वन में; ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ; वानप्रस्थी हों या संन्यासी, हमें श्रम करना है। जो चलता रहता है, श्रम करता है, उसे ही जीवन का मधु मिलता है।

ऋषि और कृषक दोनों श्रम को महत्त्व देते हैं, दोनों के जीवन में आश्रम की महत्ता और सार्थकता है। दोनों ने अपने जीवन में श्रम को महत्त्व दिया है, श्रम को आमन्त्रित किया है। ऋषि अपने आश्रमों

के यज्ञकुण्डों में मन्त्रों से हवन करते हैं, यज्ञाग्नि प्रदीप्त करते हैं और ज्ञान का अर्जन करते हैं। कृषक अपने खेतों को ही हवनशाला या यज्ञकुण्ड मानते हैं और उनमें श्रम की, पसीने की आहुति देते हैं। हल, फाल और दो बैल इनके अध्वर्यु हैं, ब्रह्मा होता है, स्वयं कृषक ही यजमान है। ऋषि और कृषक दोनों स्वान्तः सुखाय होते हुए भी परान्तः सुखाय हैं, बहुजनहिताय समर्पित हैं। ऋषियों में सागर की गहराई है, आकाश का अनन्त विस्तार है। कृषकों में हिमालय की ऊँचाई है और धरती की सहिष्णुता है। ऋषि धर्म की परिभाषा गढ़ते हैं, तप की महिमा बताते हैं और जीवन को सही ढंग से जीने की कला सिखाते हैं। किसान और गृहस्थ धर्म की परिभाषा के आधार पर अपना

जीवन व्यतीत करते हैं; तप और संयम को अपने जीवन में उतारते हैं तथा ऋषियों द्वारा उपदिष्ट-निर्दिष्ट जीवन को सही ढंग से जीने का प्रयत्न करते हैं। ऋषि जंगल में, एकान्त में तप और साधना करते हैं; कृषक संसार और समूह में तप और श्रम की साधना करते हैं। एक वर्ग की एकान्त में ज्ञान की साधना है, दूसरे की कोलाहलमय संसार में श्रम की साधना है और सेवा का व्रत है।

(क्रमशः)

ऋतम्भरा, शान्तिपुरी,
पो० मोतीहारी, पूर्वी चम्पारण।
पिन - ८४५४०९



जय जय भारतभूमि भवानी ।

जाकी सुजस पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी । ।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी ।
जा श्री-सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी ।
धर्म सूर जित उयो नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी ।
सकल कला गुन ससित सभ्यता जहँ सो सबहिँ सुझानी ।
भयो असंख्य जहाँ जोगी तापस ऋषिद्वार मुनि ज्ञानी ।
विबुध विप्र विग्यान सजल विद्या जिनते जग जानी । ।
जग विजयी नृप रहें कवहुँ जहँ न्याय निरत गुनखानी ।
जिन प्रताप सुर असुरनहूँ की हिम्मत विनसि विलानी । ।
कालहुँ सम अति तून समझत जहँ के सभी अभिमानी ।
वीर बधूँ बुध जननि रहीं लाखन जित सती सयानी । ।
कोटि कोटि जिन कोटि पती रत वनिन वनिक धन दानी ।
सेवत शिल्प यथोचित सेवा मूद समृद्ध बढानी ।
जाको अन्न खाय ऐँडति जग जाति अनेक अधानी ।
जाकी सम्पति लुटत हजारन वरसनहूँ न खोटानी ।
सहस सहस वरिसन दुख नित नव जो न ग्लानि उर आनी ।
धन्य धन्य पूरव सम जग नृपगन मन अजहूँ लोभानी । ।
प्रनमत तीस कोटि जन अजहूँ जाहि जोरि जुग पानी ।
जिनमें झलक एकता की लखि जग भति सहम सकानी । ।
ईस कृपा लहि बहुरि 'प्रेमघन' वनहुँ सोइ छनि छानी ।
सोई प्रताप गुणजन गर्दित हैं भरी पुरी धन धानी । ।
बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

सत्य की अवधारणा

□ आचार्य सारंगधर

भारतीय संस्कृति में सत्य, अहिंसा, परोपकार, कृतज्ञता, करुणा, क्षमा, दया, तप, त्याग प्रभृति जिन कतिपय आधारभूत नैष्ठिक मूल्यों का समावेश हुआ है, उनमें सत्य सर्वोपरि है। धर्म के अनेक लक्षण निश्चित किये गए हैं, उन सबमें सत्य का स्थान अन्यतम है, क्योंकि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है— 'नास्ति सत्यात् परोधर्मः।' गोस्वामीजी ने सत्य के समान दूसरा कोई धर्म स्वीकार ही नहीं किया है— 'धर्म न दूसर सत्य समाना'। कबीरदास का विचार है— 'साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप'। सत्य की महिमा से अखिल ब्रह्माण्ड व्याप्त है। शरीर की शुद्धि जल से और मन की शुद्धि सत्य से होती है।— 'अदिभर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति'।

सत्य से रहित जप, तप, पूजा सब व्यर्थ हैं—

सत्यहीना वृथा पूजा सत्यहीनो वृथा जपः।

सत्यहीनं तपो व्यर्थमूषरे वपनं यथा॥

सत्य का महत्त्व सहस्रों अश्वमेध यज्ञ से बढ़कर है—

अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।

अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

श्रीमद्भगवद्गीता में सत्य को ही वाणी का तप कहा गया है—

अनुद्वेगकथं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाम्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते॥

सत्य से पवित्र कर ही वचन बोलना चाहिए— 'सत्यपूतां वदेद्वाचम्'। महर्षि चाणक्य के विचार से तो सत्य के प्रभाव से ही पृथ्वी सम्पूर्ण चराचर

को धारण करती है, सूर्य अखिल भूमण्डल को प्रकाशित करता है और वायु समस्त जीवधारियों में प्राण का संचार करती है—

सत्येन धायति पृथ्वी सत्येन तपते रविः।

सत्येन वाति वायुश्च सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

महात्मा विदुर के मत से धर्म की रक्षा सत्य से ही होती है—

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।

मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते॥

ऋग्वेद का ऋषि डिंडिम घोष करता है—

सामा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः।

(सत्य भाषण के द्वारा मैं अपने को सब बुराइयों से बचा सकूँ।)

यजुर्वेद का ऋषि अपनी वाणी में सत्यप्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है— वाचः सत्यमशीय। बृहदारण्यक के अनुसार सत्य और ब्रह्म अन्योन्याश्रित हैं— सत्यं ब्रह्मेति सत्यंहमेव ब्रह्म। सत्यमेव जयते उपनिषदों का हृदयस्थल है। यही कारण है कि इस 'सत्यमेव जयते' को ही हमारे देश में राष्ट्रीय वाक्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

सत्य की महत्ता अपरिमित है। राजा हरिश्चन्द्र भगवान् श्रीराम के पूर्वज थे। अपने सत्यभाषण के कारण वे सत्यवादी हरिश्चन्द्र के नाम से अभिहित हुए। उनकी सहज प्रतिज्ञा थी—

चन्द्र हरै सूरज टरै टरै जगत व्यवहार।

पै दृढ़ श्री हरिश्चन्द्र का टरै न सत्य विचार॥

तथा बेचि देह दारा सुअन होहि दासहूँ मन्द।

रखिहौं निज बच सत्य करि अभिमानी हरिश्चन्द्र॥

और, इस प्रतिज्ञा के पालन में सचमुच उन्होंने अपने शरीर, पत्नी और पुत्र को बेचा।

इसी का परिणाम है कि युग-पर-युग बीत गए, हरिश्चन्द्र आज भी अमर हैं। ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर को कौन नहीं जानता? अपनी सत्यवादिता के कारण ही वे सशरीर स्वर्ग पहुँचे।

यह तो प्राचीन युग की बात हुई। आधुनिक युग का उदाहरण लें। महात्मा गांधी से सभी परिचित हैं। विचारकों का मत है कि विगत सौ वर्षों के बृहत् कालखण्ड में सम्पूर्ण पृथ्वी पर ऐसा व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ। इसी सन्दर्भ में इनके बचपन का स्मरण कीजिए, इनकी आत्मकथा का अवलोकन कीजिए। इनका बचपन अनेक दुर्व्यसनों से युक्त था। भाई के आभूषण में से इन्होंने चुराकर सोना बेचा था। पढ़ने-लिखने में भी सामान्य थे। एक साधारण शब्द की अक्षरी लिखने में भूल हुई थी। किन्तु इन्होंने बचपन से ही दृढ़तापूर्वक सत्य बोलने का अभ्यास किया, सत्य का प्रयोग किया। परिणामतः साधारण से इस बालक मोहनदास को बापू और महात्मा के रूप में प्रसिद्धि मिली। अँगरेजों के राज्य में सूर्यास्त नहीं होता था। बापू के सत्य-बल ने उन्हें अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर सात समुद्र पार जाने पर विवश कर दिया। सत्य बोलने से साधुता, सरलता, सच्चरित्रता, निर्भयता आदि अनेक अद्भुत गुण अनायास चले आते हैं।

सत्य बोलनेवाला कभी दुविधा में नहीं रहता। कहा जाता है कि एक बार किसी ने बापू से पूछा— बापू! आप सदा सत्य बोलने के लिए कहा करते हैं। मान लीजिए कोई गाय बधिक की वधशाला से किसी प्रकार भागकर अपनी प्राणरक्षा के लिए सामने कहीं झाड़ी में छिप जाती है। गाय का पीछा करता बधिक मुझसे प्रश्न करता है कि इधर गाय को देखा है? मैं यदि सत्य बोलता हूँ तो गाय मारी जाती है और गाय को नहीं बताता तो सत्य की हत्या होती है। क्या यहाँ सत्य का पालन सम्भव है? बापू ने झट उत्तर दिया था— बिलकुल सम्भव

है। यहाँ तो कोई समस्या ही नहीं है। स्पष्ट शब्दों में कह दो— देखा है, बताऊँगा नहीं। सत्य बोलनेवाला कभी भयभीत नहीं होता।

संस्कृत के अस् धातु के साथ शतृ प्रत्यय के योग से सत् शब्द बनता है। इसी सत् शब्द से यत् प्रत्यय द्वारा सत्य शब्द निष्पन्न होता है। सच्चा, यथार्थ, असली, वास्तविक इत्यादि इसके पर्याय हैं। यह न तो नूतन होता है, न पुरातन। अपितु यह सनातन होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य की सीमाएँ इसे प्रतिबन्धित नहीं कर पातीं। यह कालातीत होता है। इसीलिए इसे त्रिकालाबाधित्व भी कहा जाता है। अर्थात् सत्य वह है जो अटल, निश्चित और शाश्वत हो तथा भूत, वर्तमान और भविष्य से परे हो। दूसरे शब्दों में बिना किसी छिपाव या बनाव के घटना तथा उसकी प्रतिक्रिया को उसी रूप में व्यक्त कर देना सत्य कथन कहलाता है।

सत्य एक है और व्यापक है। किन्तु जिस प्रकार एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न घटों में अगणित रूपों में प्रतिबिम्बित होता है; उसी प्रकार एक ही सत्य इतिहास का सत्य, विज्ञान का सत्य, साहित्य का सत्य प्रभृति विभिन्न नामों से जाना जाता है।

इतिहास में किसी जाति के उत्थान-पतन अथवा राजा-महाराजाओं की विजय-पराजय की गाथा वर्णनात्मक शैली में प्रस्तुत की जाती है। इसमें भूतकाल की प्रधानता रहती है। तिथियों और संवतों से युक्त इसकी घटनाएँ सत्य प्रतीत होती हैं। विज्ञान में किसी वस्तु का विश्लेषण रहता है। इसमें वर्तमान की प्रधानता रहती है। वैज्ञानिक जलकणों को देखता है। वह उसका विश्लेषण करता है और पाता है कि जल तत्त्व नहीं, यौगिक है क्योंकि उसके प्रत्येक अणु में हाइड्रोजन एवम् आक्सीजन के परमाणु एक निश्चित अनुपात में रासायनिक बन्ध के द्वारा जुड़े हुए हैं। वह इसे

कठोर सत्य मानता है और कहता है कि जल-बिन्दुओं में हाइड्रोजन एवम् आक्सीजन के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

साहित्य का सत्य इतिहास और विज्ञान के सत्य से भिन्न होता है। साहित्यकार का लक्ष्य इतिवृत्तात्मक अथवा विश्लेषणात्मक वर्णन करना नहीं, अपितु रसोद्रेक द्वारा आनन्द की सृष्टि करना होता है। इतिहास में तिथियों तथा संवतों को छोड़कर अन्य कोई भी वस्तु यथार्थ अथवा प्रामाणिक नहीं होती, जबकि साहित्य में तिथियों और संवतों के सिवा सब कुछ यथार्थ और प्रामाणिक होता है। प्रत्येक युग में इतिहास को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया जाता है जिसे आज भी देखा जा सकता है। अतएव उसकी सत्यता में सन्देह का अवकाश विद्यमान रहता है।

विज्ञान के सत्य को भी इदमित्थम् नहीं कहा जा सकता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ परवर्ती वैज्ञानिकों ने पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों को खण्डित कर दिया है। तब आज का सिद्धान्त कल खण्डित न होगा— इसी का क्या प्रमाण!

साहित्य का सत्य कालसीमा में आबद्ध नहीं होता— कालातीत होता है। इतिहासकार अथवा वैज्ञानिक वस्तु का प्रत्यक्ष और यथार्थ वर्णन करता है जब कि साहित्यकार हृदयस्थ भावों के प्रभाव का वर्णन करता है। साहित्य का सत्य केवल संकुचित यथार्थ के निष्पत्ति पर कसा जानेवाला सत्य नहीं होता, वह सम्भाव्य सत्य भी हो सकता है। साहित्य के कल्पनाश्रित एवं चामत्कारिक प्रयोग पर विज्ञान हँसता है और विज्ञान की सीमा देख साहित्य आँसू बहाता है। साहित्य विज्ञान के लिये दृढ़ आधार तैयार करता है जिसपर विज्ञान भव्य भवन खड़ा करता है। साहित्य ने पुष्पक विमान की चर्चा की— विज्ञान ने उसे साकार कर दिखाया। ऋषि अगस्त को कुम्भज कहा गया है— आज परखनली शिशु की किलकारी सुन लीजिए।

रामचरितमानस में लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग में राम ने लक्ष्मण को पुत्र कहा है—

अब अपनो कु सो कु सुत तोरा।

साहिहि निठुर कठोर उर मोरा।।

क्या लक्ष्मण राम के पुत्र थे? कदापि नहीं। संसार जानता है कि लक्ष्मण राम के भाई थे। क्या राम झूठ बोले? ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि राम के सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा है— रामोद्विनाभिभाषते (राम असत्य भाषण नहीं करते)। तो राम ने लक्ष्मण को पुत्र क्यों कहा? लक्ष्मण छोटे थे राम बड़े। दोनों निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे। राम लक्ष्मण को लाड़-प्यार वैसे ही कर रहे थे जैसे पिता पुत्र को करता है। लक्ष्मण का आचरण भी पुत्रवत् ही था। उन्हें शक्ति लगी थी। वे अचेत पड़े थे। बचने की आशा न थी। ऐसे समय में राम के हृदय में करुणा का उद्रेक हुआ और उन्होंने पुत्रवत् लक्ष्मण को पुत्र कह दिया। यह साहित्य का सत्य है। इसे असत्य नहीं कहा जा सकता। ऐसे अनेक उदाहरण अवलोकनीय हैं।

दूसरे की माँ को कहना उसे गाली देने के समान है, क्योंकि इस शब्द में पिता की पत्नी होने का भाव निहित है। किसी पिपासु यात्री ने कुँए पर जलाहरण करती हुई वृद्धा को देखा और कहा— माताजी, प्यास लगी है, पानी पिला दीजिए। इस माता शब्द को सुनकर उस वृद्धा को आग बबूला हो जाना चाहिये था, उसे गाली देनी चाहिये थी। किन्तु उसने ऐसा कुछ नहीं किया। इस शब्द को सुनकर उसका हृदय आह्लादित हो गया और उसने बड़े प्रेम से पानी पिला दिया।

लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग में ही राम ने आगे कहा है कि लक्ष्मण मेरा सहोदर भाई है तथा वह सुमित्रा का इकलौता पुत्र है, जबकि बाह्यतः ये दोनों कथन असत्य हैं, क्योंकि राम अपनी माता के इकलौते पुत्र थे, सुमित्रा के दो बेटे थे, लक्ष्मण

और शत्रुघ्न—

अस विचारि भियँ जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।।

+ + +

निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा।।

किन्तु राम के इन वचनों को असत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये वचन करुणा-व्यथित, बन्धु-वियोगी के हैं। इनमें करुण शोक का अतिरेक व्यंजित है। कवि का अभिप्राय यही है कि करुणा के प्रवाह में मर्यादा, धैर्य और मानसिक सन्तुलन नहीं रहता। साहित्य का सत्य इसी व्यंजना में निहित है।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो बाह्यतः यथार्थ प्रतीत नहीं होते, किन्तु उन्हें अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता।

एक बालक अपने पिता के निकट बैठकर पढ़ रहा था। वह अचानक खड़ा हुआ और कहीं जाने लगा। पिता ने पूछा— कहाँ जा रहे हो? बालक ने चलते-चलते उत्तर दिया— आ रहा हूँ। पिता ने देखा कि वह बालक उत्तरोत्तर देश संयोगानुकूल व्यापार कर रहा है, कहीं जा रहा है किन्तु वह कहता है कि आ रहा हूँ। दोनों में सत्य कौन? आँखों ने संयोग-सम्बन्ध से जाते हुए देखा यह या कानों से समवाय-सम्बन्ध से कहते हुए सुना वह? केवल आँखों द्वारा प्राप्त ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है— **इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य-ज्ञानं प्रत्यक्षम्।** घ्राणज, रासन, चाक्षुष, श्रावण, स्पर्शन और मानस इनके छह प्रकार हैं।

कोई पाठक बालक के इस 'आ रहा हूँ' वाक्य को असत्य अथवा अशुद्ध मान सकता है, किन्तु ऐसा समझना उचित नहीं। हिन्दी-अंगरेजी

में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ भविष्यत्काल के अर्थ में वर्तमान काल का प्रयोग होता है। 'मैं कल दिल्ली जाऊँगा' के स्थान पर 'मैं कल दिल्ली जा रहा हूँ' सदृश प्रयोग अशुद्ध नहीं। अंगरेजी में 'मैं एक दूकान खोलूँगा' के लिए I shall open a shop खूब चलता है। वस्तुतः यहाँ बालक इतने कम समय के लिए बाहर जाता है (सम्भव है नाक साफ करने अथवा बगलवाले कक्ष से कलम आदि लाने गया हो) कि वह इस जाने को जाना नहीं समझता— आना समझता है।

किसी ने कहा— 'दो दलों में लाठियाँ चलने लगीं।' क्या लाठियों के पैर हो गए कि वे चलने लगीं!

समाचार-पत्र में छपा था— 'अमुक गाँव जल गया।' एक सीमा के अन्दर पड़नेवाले वृक्ष, तालाब, नदी, सड़क, कूप, खेत, घर आदि के सामूहिक रूप को गाँव कहा जाता है। क्या वहाँ की सड़कें जल गईं? नदियाँ जल गईं? तालाब और कुएँ जल गए? यदि नहीं तो केवल कुछ घरों और झोपड़ियों के जल जाने को गाँव जल गया कहना कहाँ तक उचित है।

एक चादर है। मान लीजिए उसकी लम्बाई और चौड़ाई क्रमशः ढाई मीटर और दो मीटर है। एक चिनगारी से उसके एक वर्ग सेंटीमीटर भाग में छिद्र हो जाता है। वह व्यक्ति चिल्ला उठता है— चादर जल गई। उसे तो चिल्लाकर कहना चाहिए था कि चादर नहीं जली, चादर नहीं जली, क्योंकि (२५०×२००) वर्ग सेंटीमीटर = ५०००० वर्ग सेंटीमीटर चादर में से उनचास हजार नौ सौ निन्यानबे वर्ग सेंटीमीटर चादर का भाग अभी शेष है। बहुमत की उपेक्षा क्यों?

गुप्तजी ने लिखा—

अबला जीवन हाथ, तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

हिन्दू धर्म: महात्मा गांधी के विचार-दर्शन

□ डा० एस०युन०पी० सिन्हा

महात्मा गांधी विलक्षण महामानव थे। तथागत बुद्ध के उपरान्त विश्व के मानव-जीवन पर उनका सर्वाधिक सशक्त और श्रेयस्कर प्रभाव पड़ा। अलबर्ट आइन्सटीन-जैसे महान् वैज्ञानिक ने उनके बारे में कहा कि आनेवाली पीढ़ियाँ मुश्किल से यकीन करेंगी कि हाड़-मांस का बना एक ऐसा व्यक्ति इस धरती पर चला-फिरा था।

सत्य और अहिंसा गांधीजी के जीवन-दर्शन और चिन्तन में मूलाधार के रूप में अवस्थित हैं। उनके सत्य-अहिंसा-दर्शन में मानव-जीवन के सभी प्रकार के संकटों से उबरने का दिव्य प्रकाश है। उनकी सत्याधारित धर्म-साधना में उनके जीवन के उच्चतम पुरुषार्थ एवं चरम लक्ष्य के दर्शन किए जा सकते हैं। कई पाश्चात्य चिन्तकों ने उन्हें 'जीसस' के दूसरे रूप में अवतार कहा। बहुत से चिन्तकों ने उन्हें शिव, राम, कृष्ण, महावीर की पंक्ति में रखा है, जिन्होंने मानव-जीवन को बहुत प्रभावित किया है। मानव-समाज उनसे प्रेरणा पाकर अपने जीवन को उन्नत करता चला आ रहा है। इन 'आस्था-पुरुषों' का 'आस्था-दीप' जीवन की सभी परिस्थितियों में जलने की क्षमता रखते हैं और मानव-जीवन को आलोकित रखने के लिए इनमें अमर प्राण-शक्ति है। लुइस फिसचर ने तो यहाँ तक कहा— "मनुष्य को अगर जिन्दा रहना है, अस्तित्व नहीं खोना है, सभ्यता-संस्कृति को विनाश से बचाना है, स्वतन्त्र और मुक्त जीवन जीना है, सत्य पर आधारित राष्ट्र को अपनी स्वतन्त्रता और समग्र अस्तित्व को बचाना है, अणु-परमाणु बमों के विनाशकारी प्रभाव से बचना है तो लेनिन या ट्राट्स्की या मार्क्स, माओ या हो के चिन्तन से

नहीं, सत्य-अहिंसा पर आधारित महात्मा गांधी के विचार-चिन्तन की शरण लेना होगा।" और ध्यातव्य है कि गांधीजी ने 'सत्य' को ही ईश्वर कहा और उसकी प्राप्ति का एक मात्र मार्ग 'अहिंसा' को बताया। प्रस्तुत हैं, उनके विचार-चिन्तन उन्हीं के शब्दों में—

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन ने हिन्दू धर्म और हिन्दू-दर्शन पर अपने एक निबन्ध में टिप्पणी की थी— "भारत में धार्मिक कट्टरता नहीं है। यहाँ धर्म एक सतत वैचारिक शृंखला है, जो तर्कशास्त्र और दर्शन के सहारे प्रगतिपथ पर अग्रसर है। इस वैचारिक शृंखला पर बौद्धिक चिन्तन का विशेष प्रभाव दर्शन के धर्म का प्रतिरूप मानता है और यही आम धारणा भारत में धर्म के तार्किक चरित्र को स्थापित करती है। धर्म जीवन की विभिन्न गतिविधियों में सामंजस्य स्थापित करते हुए उसे दिशा-निर्देश प्रदान करता है। धर्म यहाँ महज पन्थ या सम्प्रदाय नहीं है, जो परम्परागत या सामाजिक बाध्यता लागू करे। यह जीवन का सम्पूर्ण नियम है। भारत में तो धर्म मानवीय एकता का प्रतीक है, जो सही व न्यायसंगत जीवन का मार्ग प्रशस्त करता है.... 'सत्य' की खोज के लिए जरूरी है कि अपने चारों ओर से विरक्त और निर्लिप्त हो जाएँ। वस्तुतः सभी धर्मों का लक्ष्य 'सत्य' की खोज ही है। हिन्दू धर्म ने बाहर से आनेवाली जातियों तथा आदिवासियों के देवी-देवताओं को स्वीकार कर अपना देवी-देवता मान लिया। ईरानी, हूण, कुषाण, मंगोल, पार्थियन, वेक्ट्रियन, तुर्क, ईसाई, यहूदी, फारसी सभी भारतीय संस्कृति के महासागर में

विलीन हो गए। ठीक वैसे ही जैसे छोटी नदियाँ और नद समुद्र आकर विलीन हो जाते हैं।

(Indian Religions - S. Radhakrishnan, paper back page 49....., 72..... & 99)।

सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन ने गांधीजी के अन्तिम दिनों में जब वे बिड़ला धर्मशाला, दिल्ली में रहा करते थे तब धर्म के बारे में उनके विचार जानने की उत्सुकता जताई और पूछा—

(a) What is religion? (b) How are you led to it? (c) What is its bearing on Social life? Gandhi replied these questions thus: "My religion is Hinduism Which, for me, is the religion of humanity and includes the best of all religions known to me. I am led to my religion through truth and non-violence. I often describe my religion as religion of truth. Of late, instead of. Saying 'God is truth', I have been saying 'Truth is God'. We are all sparks of Truth. The sum total of these sparks is indescribable, as yet unknown Truth, which is God. The bearing of this religion on Social life is, or has to be, seen in one's daily Social contact. To be true to such religion, one has to lose oneself in continuous and continuing 'Service of all' in life. Realisation of Truth is impossible without a complete merging of oneself in and identification with this limitless ocean of life. Hence, for me, there is no escape from Social Service, there is no happiness on earth beyond or apart from it. In this scheme, there is nothing low; or nothing high. For all is one, though we seem to be many. The deeper I study Hinduism, the stronger becomes the belief in me that Hinduism is as broad as the Universe. Some thing within me tells that, for all the deep veneration I show to several religions, I am all the more a Hindu, nonetheless for it As "Gita" puts it: seeing same God

equally present every where, in every thing, one does not injure the self by self & thus goes to higher level of consciousness to divinity one is near to God ..." Paramatma.

(from Book on President Radhakrishnan's speeches and writings second series May 64 May 67. Publication Division, Ministry of information and Broadcasting, Govt. of India.)

हिन्दू धर्म के सारतत्त्व को स्पष्ट करते गांधीजी ने स्पष्ट किया है— "यदि मुझसे हिन्दू धर्म की व्याख्या करने के लिए कहा जाए तो मैं इतना ही कहूँगा— अहिंसात्मक साधनों द्वारा सत्य की खोज। कोई मनुष्य ईश्वर में विश्वास न करते हुए भी अपने आप को हिन्दू कह सकता है। सत्य की अथक खोज का ही दूसरा नाम हिन्दू धर्म है। यदि आज वह मृतप्राय, निष्क्रिय अथवा विकासशील नहीं रह गया है तो इसलिये कि हम थककर बैठ गए हैं और ज्योंही यह थकावट दूर हो जाएगी, त्योंही हिन्दू धर्म ऐसे प्रखर तेज के साथ छा जाएगा, जैसा कदाचित् पहले कभी नहीं हुआ। अतः निश्चित रूप से हिन्दू धर्म सबसे अधिक सहिष्णु धर्म है।"

(२४.४.१९२४, खण्ड- २३, गांधी-वाङ्मय, भारती इतिहास परिषद् ने०बु०ट्र०, नई दिल्ली)

धर्मपरिवर्तन पर विनम्रतापूर्वक गांधीजी ने अविश्वास प्रकट किया है। "धर्म-परिवर्तन के उद्देश्य लोग दूसरों से कुछ कहें, इसमें मेरा विश्वास नहीं है। विश्वास में किसी को कुछ बताने की गुंजाइश नहीं है। विश्वास पर तो आचरण करना होता है। और तब वह अपना प्रचार स्वयं करता है।" अपने हिन्दू होने के कारण और साथ ही हिन्दू धर्म की मूल विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान वे इस रूप में आकृष्ट करते हैं— "मैं वंशानुगत गुणों के प्रभाव पर विश्वास रखता हूँ और मेरा जन्म एक हिन्दू परिवार में हुआ है, इसलिये मैं

हिन्दू हूँ। अगर मुझे यह अपने नैतिक बोध या आध्यात्मिक विकास के विरुद्ध लगे तो मैं इसे छोड़ दूँगा। अध्ययन करने पर जिन धर्मों को मैं जानता हूँ, उनमें मैंने इसे सबसे अधिक सहिष्णु पाया है। इसमें सैद्धांतिक कट्टरता नहीं है, यह बात मुझे बहुत आकर्षित करती है, क्योंकि इस कारण इसके अनुयायी को आत्माभिव्यक्ति का अधिक-से-अधिक अवसर मिलता है। अहिंसा सभी धर्मों में है, मगर हिन्दू धर्म में इसकी उच्चतम अभिव्यक्ति और प्रयोग हुआ है। मैं जैन और बौद्ध धर्मों को हिन्दू धर्म से अलग नहीं गिनता।”

(‘यंग इंडिया’, २०.१०.१९२७)

सभी जीवधारियों की एकात्मता पर अपने अनूठे एवं मानवतावादी चिन्तन का परिचय गांधीजी ने इस प्रकार दिया है— “हिन्दू धर्म न सिर्फ मनुष्यों की एकात्मता में विश्वास करता है, बल्कि सभी जीवधारियों की एकात्मता में विश्वास रखता है। हिन्दू धर्म में गाय की पूजा मानवीयता के विकास की दिशा में उसका एक अनोखा योगदान है। वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्त की खोज सत्य की निरन्तर खोज का अत्यन्त सुन्दर परिणाम है। गो-भक्ति और वर्णाश्रम के आज के खयालात, मेरी समझ में, मूल गो-भक्ति और वर्णाश्रम की विकृतियाँ भर हैं।”

(यंग इंडिया, २०.१०.१९२७)

सनातनी हिन्दुत्व को बड़े सहज और सरल रूप में स्पष्ट करते हुए गांधीजी ने कहा है— “सनातन शब्द का प्रयोग मैं उसके स्वाभाविक और प्रचलित अर्थ में ही कर रहा हूँ। मैं अपने को सनातनी हिन्दू इसलिए कहता हूँ कि— (क) मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और हिन्दू धर्मग्रन्थों के नाम से प्रचलित सारे साहित्य में विश्वास रखता हूँ और इसलिए अवतारों और पुनर्जन्म में भी। (ख) मैं वर्णाश्रम धर्म के उस रूप में विश्वास

रखता हूँ, जो मेरे विचार से विशुद्ध वैदिक है, लेकिन उसके आजकल के लोकप्रचलित और स्थूल रूप में मेरा विश्वास नहीं है। (ग) मैं गो-रक्षा में उसके लोकप्रचलित रूपों से कहीं अधिक व्यापक रूप में विश्वास करता हूँ। (घ) मैं मूर्ति-पूजा में अविश्वास नहीं करता। मैं ऐसा नहीं मानता कि सिर्फ वेद ही अपौरुषेय हैं— ईश्वरीय हैं। ‘बाइबिल’, ‘कुरान’, तथा जेन्द-अवेस्ता के पीछे भी मैं उतनी ही ईश्वर-प्रेरणा मानता हूँ।”

(‘यंग इंडिया’, ६.१०-१९२१)

उन्होंने प्राचीन के साथ वर्तमान सन्दर्भ और सच को सम्पृक्त करते हुए स्पष्ट किया है— “हिन्दुओं के इस सूत्र में मेरा पूर्ण विश्वास है कि जिसने अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य को सिद्ध नहीं कर लिया, जिसने धन-सम्पत्ति की प्राप्ति की आकांक्षा या उसे रखने की लालसा का त्याग नहीं कर दिया, उसे वास्तव में शास्त्रों के रहस्य का ज्ञान नहीं होगा। मैं गुरु में विश्वास करता हूँ; क्योंकि पूर्ण ज्ञान का संयोग किसी भी एक व्यक्ति में मिल पाना आजकल बहुत कठिन हो गया है।”

(‘यंग इंडिया’, ६.१०-१९२१)

अपने लिए गीता और रामायण (तुलसीकृत) की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं— “इन दोनों का संगीत मेरे मन को जितना आह्लादित करता है, उतनी और कोई चीज नहीं करती। एक बार जब मुझे लगा कि मेरी अन्तिम घड़ी आ पहुँची है, तब मुझे गीता से ही सांत्वना प्राप्त हुई थी। आजकल हिन्दुओं के बड़े-बड़े मन्दिरों में जो बुराई चल रही है, उसे मैं जानता हूँ। उनमें ऐसे दोष हैं, जिनका वर्णन भी नहीं किया जा सकता, फिर भी मुझे उनसे प्रेम है। उनमें एक विशेष आकर्षण का अनुभव करता हूँ— ऐसा आकर्षण जैसे आकर्षण का अनुभव और किसी चीज के प्रति नहीं करता।”

(‘यंग-इंडिया’, ६.१०-१९२१)

गांधीजी की दृष्टि में— “हिन्दू धर्म कोई वर्जनशील धर्म नहीं है। उसमें दुनिया के सभी नबियों और पैगम्बरों की पूजा के लिए स्थान है। वह साधारण अर्थों में प्रचार का ध्येय रखनेवाला धर्म नहीं है। बेशक, उसके अंचल में कई जातियाँ समा गई हैं, लेकिन यह विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया की तरह और अदृश्य रूप से हुआ है। हिन्दू धर्म सभी लोगों को अपने-अपने धर्म के अनुसार ईश्वर की उपासना करने को कहता है और इसलिये उसका किसी धर्म से कोई झगड़ा नहीं है।”

(‘यंग-इंडिया’, ६.१०-१६२१)

‘हिन्दुत्व’ इधर बहुत चर्चित शब्द हो गया है। इसकी परिभाषा और व्याख्या अपने-अपने मिशन के अनुसार हर कोई कर रहा है। गांधीजी मानते हैं कि— “‘हिन्दुत्व’ के अनुसार सत्य ही परम धर्म है, सनातन है, यह सर्वव्यापक है। इसकी समदृष्टि भूमादृष्टि है। जो कुछ महाभारत में कहा गया है वह हिन्दुत्व के बारे में भी सही है। जो कुछ इस विश्व में कहीं भी है, हिन्दू धर्म में भी विद्यमान है और जो ‘हिन्दुत्व’ में नहीं है वह दुनिया में और कहीं नहीं है। हिन्दुत्व में मूल मान्यता है— सब कुछ ब्रह्ममय है— ‘ब्रह्मसत्यं-जगन्मिथ्या’। ब्रह्म इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। हिन्दुत्व एक महासागर है। इसमें विविध पन्थ और विविध व्यक्तित्व इस समुद्र-तरंग के ही रूप हैं। सत्य, हिन्दुत्व और धर्म एक हैं। जो व्यक्ति हिन्दुत्व की व्याख्या ऐसी करता है, जो समाज की एकता, राष्ट्र की अखण्डता को तोड़े अथवा बाधित करे और विघटन पैदा करे, हिंसात्मक प्रवृत्ति का सहारा ले तो वह ‘हिन्दुत्व’ का विनाशकर्ता कहा जाएगा।”

(गांधीजी की विश्वदृष्टि: रामेश्वर मिश्र ‘पंकज’, मानक पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, विशेष संस्करण, १९९४)

गांधीजी के हिन्दू धर्म-सम्बन्धी चिन्तन पर विचार करने के क्रम में उक्त सन्दर्भ में कुछ अन्य दार्शनिकों-चिन्तकों के मौलिक चिन्तन का उल्लेख करना प्रासंगिक जान पड़ता है। रोम्यां रोला के मत में— “मैंने यूरोप और एशिया के सभी धर्मों का अध्ययन किया है, मुझे इन सबमें हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखाई देता है। मेरा विश्वास है कि इसके सामने समस्त जगत् को सिर झुकाना पड़ेगा।”

अबुल फ़जल ने माना है— “हिन्दू अनुकूल आचरण करनेवाले तथा सबके प्रति दयालु होते हैं। उनका संसार में किसी से वैर नहीं है।” और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की धारणा में— “हिन्दू संस्कृति ही विश्व-संस्कृति है।”

.... सचमुच, “हिन्दुओं की दृष्टि में समस्त धर्मजगत् भिन्न-भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों का, विभिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों से होते हुए ईश्वर-लाभ के उस एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा करना है, अग्रसर होना है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मानव को ब्रह्म में परिणत करने में प्रयत्नशील है और वही ईश्वर इन समस्त धर्मों का प्रेरक है। तो फिर ये सब धर्म परस्पर विरोधी क्यों हैं? हिन्दुओं का कहना है कि ये विरोध केवल आभास मात्र हैं, वास्तविक नहीं, विभिन्न अवस्थापन्न भिन्न प्रकृतिवाले मनुष्यों को उपयोगी होने के लिए उस एक ही सत्य ने इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भाव धारण किए हैं। परन्तु प्रत्येक के अन्तस्तल में— प्रत्येक धर्म में उसी एक सत्य का राजत्व है।

कृष्णावतार में भगवान् ने हिन्दुओं को यह उपदेश दिया है,— “प्रत्येक धर्म में मैं मौक्तिक-माल-सूत्र की तरह पिरोया हुआ हूँ” (... ‘मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव’— गीताः ७.७) जहाँ भी तुम्हें मानव-सृष्टि को उन्नत करनेवाली और पावन करनेवाली अतिशय पवित्रता और असाधारण शक्ति दिखाई दे तो जान

लो कि वह मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ है (यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोऽशासम्भवम्॥— गीताः १०.४१) और इस शिक्षा का परिणाम क्या हुआ? सारे संसार को मेरी चुनौती है कि समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में मुझे एक ऐसी उक्ति तो दिखा दे जिसमें यह बताया गया हो कि केवल हिन्दुओं का ही उद्धार होगा और दूसरों का नहीं। भगवान् कृष्ण द्वैपायन का वचन है— ‘हमारी जाति और सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व को पहुँचे हुए मनुष्य हैं’ (अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः।— वेदान्तसूत्र, ३.४.३६) वही परमेश्वर जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुरमन्द, बौद्धों का बुद्ध, मुसलमानों का अल्लाह, यहूदियों का जिहोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है।.... इस सर्वधर्म परिषद् ने जगत् के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है तो वह यह है— उसने सिद्ध कर दिखाया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदाय-विशेष की सम्पत्ति नहीं है एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ व अतिशय उन्नत चरित्रवाले स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है।”

(शिकागो धर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द के भाषण से उद्धृत)

निष्कर्ष रूप में उदारतापूर्वक यह सर्वस्वीकार्य है कि हिन्दू-मानस बहुत्वादी एवं विचार-सहिष्णु रहा है। इस देश में शुरू से ही बाहर से आये भिन्न-भिन्न धर्मों के धर्मावलम्बियों को उदारतापूर्वक

सम्मान दिया गया है। आज विश्व में प्रचलित सभी धर्मों में हिन्दू धर्म सबसे प्राचीन और मौलिक है, पर आज हिन्दू और हिन्दुत्व संकीर्णतावादी चिन्तन के दायरे में हैं। राजनीतिक दृष्टि से उसकी संकीर्ण व्याख्या राष्ट्रहित के समक्ष चुनौती है। साथ ही आज सम्पूर्ण विश्व परस्पर टकराव और असहिष्णुता-जैसी हठधर्मी प्रवृत्तियों के प्रभाव से आक्रान्त एवं क्षत-विक्षत हो रहा है। पन्थ और विचारधारा-विशेष ने मानवता को अपने ढंग से संचालित करने का प्रयास किया है। धर्म और राजनीति ने अपने अतिरिक्त अन्य जीवन-दर्शन के प्रति आक्रामक रुख अपनाया है। उन्मादपूर्ण व्यवहारों के कारण धर्म की आत्मा विनष्ट हुई है। मानवता को धार्मिक उन्माद के राजनीतिकरण से मुक्त कराकर ही नई मानवीय सहिष्णु सभ्यता का शिलान्यास सम्भव है। हमें सोचना होगा कि परस्पर समन्वय, सद्भाव एवं सहमति के भाव से ही मानव-जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना सम्भव है। इसके लिए महात्मा गांधी की ‘पगडंडी’— ‘सत्य-अहिंसा’ का मार्ग ही पवित्र पथ है— “नान्यः पन्था विद्यते यनाय ... अर्थात् दूसरा कोई पथ नहीं है।”

बी०-१२, पी०सी० कालोनी,
लोहियानगर, कंकड़बाग,
पटना-२०



मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः । ।

मन, वाणी और शरीर में पुण्य रूपी-अमृत से पूर्ण, अपने अनेक उपकार कर्मों से तीनों लोकों को प्रसन्न करनेवाले, दूसरों के लघुतम-से-लघुतम गुणों को बृहत्तम-से-बृहत्तम बनाकर अपने हृदय में प्रसन्नता का विकास करनेवाले कितने सज्जन हैं?

विश्वदर्शन के प्रवर्तक : सर्वपल्ली राधाकृष्णन

□ रामधारी सिंह 'दिनकर'

जिस सांस्कृतिक नवोत्थान के सन्त परमहंस रामकृष्ण, कवि रवीन्द्रनाथ और कर्मयोगी महात्मा गांधी हुए, उसके अप्रतिम दार्शनिक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन हैं। भारत के मनीषियों का लक्षण रहा है कि वे जब भी भारतीय दर्शन को नया रूप देना अथवा उसकी नई व्याख्या करना चाहते हैं, तब वे प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र) की व्याख्या करते हैं।

प्रस्थानत्रयी में भारतवर्ष की श्रेष्ठतम दार्शनिक अनुभूतियाँ संचित हैं। और ये अनुभूतियाँ केवल पुस्तकों में ही सीमित नहीं हैं, उनका सार भारतवासियों के रक्त में मिश्रित है, उनके स्वभाव में समाया हुआ है, उनके विचारों और भावों के मूल में प्रतिष्ठित है। धर्म यहाँ वह है जो सन्तों के जीवन में दिखाई पड़ता है, जैसा कि रामकृष्ण और गांधी के जीवन में वह, अभी हाल में दिखाई पड़ा था। किन्तु, दर्शन हमारा गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र में है।

श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने प्राचीन दर्शनाचार्यों के समान गीता और प्रमुख उपनिषदों की व्याख्या लिखी है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र की स्वतन्त्र व्याख्या वे नहीं लिख पाए हैं। किन्तु ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य की व्याख्या से उनके सभी ग्रन्थ ओत-प्रोत हैं। अतएव प्रस्थानत्रयी की व्याख्या का कार्य उन्होंने एक प्रकार से पूरा कर दिया है और भारतीय विचारों के इतिहास में वे उस सरणी में गिने जा सकते हैं, जो शांकर और रामानुज की सरणी है।

श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्म सन् १८८८ ई० में हुआ था। उनके माता-पिता धर्म-सेवी और ईश्वर-भक्त थे। राधाकृष्णनजी की सारी शिक्षा-दीक्षा ईसाई धर्म-प्रचारक स्कूलों और कालेजों

में हुई। आरम्भ में वे लूथर मिशन हाईस्कूल, तिरुपति में पढ़ते थे। फिर वे वेल्लोर के उरही कालेज में गए, और अन्त में, क्रिश्चियन कालेज, मद्रास में उन्होंने अपनी ऊँची शिक्षा समाप्त की। अतएव कहा जा सकता है कि उनका बचपन और छात्र-जीवन ऐसे वातावरण में बीता जो धर्म का वातावरण था तथा जहाँ अदृश्य शक्ति के अस्तित्व की बात विवाद नहीं, विश्वास की चीज थी। इन्हीं कारणों से श्री राधाकृष्णन को दर्शन की उपलब्धि विज्ञान या इतिहास के द्वारा नहीं होकर धर्म के द्वारा हुई और इन्हीं कारणों से वे आधिभौतिक कोलाहल से भरे हुए काल में भी आत्मा का स्वर बनकर विश्व के समक्ष आए।

राममोहन राय, रामकृष्ण, दयानन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्र, गांधी, तिलक और अरविन्द के समान श्री राधाकृष्णन भी उन्नीसवीं सदी में होनेवाले सांस्कृतिक महाजागरण की देन हैं। भारतीय संस्कृति और हिन्दू-धर्म को चुनौती यूरोप से आई थी, अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों से आई थी। अतएव राममोहन, केशवचन्द्र, एनी बीसेंट, विवेकानन्द और अरविन्द के द्वारा अभिनव हिन्दुत्व की ओर से जो भी तर्क दिए गए थे, उनके श्रोता, मुख्यतः, यूरोपीय विद्वान् अथवा अँगरेजी पढ़े-लिखे भारतवासी थे। रामकृष्ण, दयानन्द और तिलक तथा गांधी, इनके प्रधान श्रोता भारतवासी अवश्य थे, परन्तु, उनके सन्देश भी विश्व भर के विचारकों के पास पहुँचे।

यह बड़ा कार्य था। किन्तु शुद्ध विद्या के क्षेत्र में उससे भी बड़ा कार्य अभी अधूरा पड़ा था। यूरोप के प्राच्य विद्या-विशारदों को भारत के अतीत के विषय में जो उत्सुकता जगी थी, उसी के परिणामस्वरूप भारत का अतीत प्रकाश में आया

था और उसी प्रक्रिया में भारतवासी भी प्राचीन ज्ञान के प्रति गौरव अनुभव करने लगे थे। किन्तु यूरोप की भाषा में भारत की समस्त साधना का वृत्तान्त अभी प्रस्तुत नहीं हो पाया था, न यूरोपवालों को यही ज्ञात हो पाया था कि यूरोपीय विचारों की कसौटी पर भारतीय धर्म और दर्शन कहाँ तक खरे उतरते हैं। यह कार्य श्री राधाकृष्णन ने पूरा किया और भारत की अभिनव व्याख्या करने के क्रम में, उन्होंने पाश्चात्य जगत् की भी विधिवत् व्याख्या कर दी। इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन का जन्म श्री राधाकृष्णन के ग्रन्थों में हुआ और उन्हीं के ग्रन्थों से प्रत्येक देश के विचारकों में यह भाव जाग्रत हुआ कि विश्व-दर्शन की रचना असम्भव नहीं, सम्भव कार्य है।

मिशनरियों की आलोचनाओं से ठेसः

विचारों की जननी शंका है और दर्शन सात्त्विक सन्देह से जन्म लेता है। प्रचलित मतों के विषय में जब शंका उठने लगती है, तभी विचारकों को सोचने की उत्तेजना मिलती है। दर्शन की मुद्रा में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य में शंका करने का साहस हो। राधाकृष्णन ईश्वर-भक्त माता-पिता के पुत्र थे और हिन्दुत्व के प्रति उनमें आरम्भ से ही श्रद्धा का भाव था। हिन्दुत्व पर दार्शनिक ढंग से विचार करने को वे इसलिए बाध्य हुए कि स्कूलों और कालेजों में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने उनकी धार्मिक श्रद्धा को ठेस पहुँचाई एवं हिन्दुत्व के विषय में उनके मन में शंका डाल दी। श्री राधाकृष्णन ने अपनी 'खण्डित आत्मकथा' में स्वयं लिखा है कि ईसाई धर्म-प्रचारक संस्थाओं के शिक्षकों ने मुझे श्रद्धाहीन बनाकर जिज्ञासा की उस प्राथमिक अवस्था में डाल दिया जहाँ से सभी दर्शनों का जन्म होता है। वे लोग दर्शन के शिक्षक, व्याख्याता और टीकाकार थे। वे रह-रहकर ईसाई विचार और जीवन-पद्धति की भी दुहाई देते थे। किन्तु सही अर्थ में वे सत्य के प्रेमी या अन्वेषक नहीं थे। भारतीय विचारधारा की कड़ी आलोचनाएँ करके उन्होंने मेरी श्रद्धा को विचलित कर दिया और

परम्परा के उन स्तम्भों को हिला डाला, जिनका मैं सहारा लिये हुय था।

श्रद्धा के विचलित होते ही श्री राधाकृष्णन की शंका जाग्रत हो गई और उन्होंने देखा कि "यद्यपि, हिन्दुत्व विचारों की स्वतन्त्रता एवं मन के अनुशासन के सिद्धान्तों को तर्क से सिद्ध किये हुए है तथा यद्यपि उसकी अन्तर्दीर्घिनी दृष्टि, मूल ध्येय और विचारों के ढाँचे हमें आज भी पसन्द हैं, तथापि उसने अपने सुदीर्घ जीवन में अनेक रुढ़ियों एवं मनगढ़न्त सिद्धान्तों की रचना कर डाली है, जिनसे आत्मा के जीवन का मुक्त प्रसार असम्भव हो गया है। इसके सिवा हम एक ऐसे युग में जी रहे हैं, जब संसार भर के विचार हमें उत्तराधिकार के रूप में आप-से-आप प्राप्त हो गए हैं। भाँति-भाँति के दर्शनों और धर्मों का ऐतिहासिक ज्ञान हमारे भीतर संचित हो गया है। हम देखते हैं कि हमसे पूर्व असंख्य लोगों ने सृष्टि एवं परोक्ष सत्ता के विषय में वे ही प्रश्न उठाए हैं, जो हममें उठते हैं और उनमें से प्रत्येक इन प्रश्नों के उन्हीं उत्तरों को अन्तिम मानता है, जो स्वयं मुझे सूझे हैं। अनुमानों की इस असंख्यता को देखते हुए, यदि हम ईमानदार हों तो, हमारे लिए यह मानना कठिन हो जाता है कि सत्य केवल वही है जो हमें दिखाई देता है तथा बाकी लोग असत्य कह रहे हैं। इन अत्यन्त विरोधी अनुमानों का सामना करते ही, हम या तो परम्परा से जा चिपकते हैं अथवा फिर शंकावादी बन जाते हैं। ऐसे ही विचारों ने हिन्दू-धर्म का आलोचनात्मक अध्ययन करने को मुझे बाध्य कर दिया।"

और हिन्दू-धर्म का विधिवत् अध्ययन करते-करते श्री राधाकृष्णन भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचे जिसपर विवेकानन्द, गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द पहुँचे थे। भारतीय धर्म गर्हित नहीं, पुनीत है। धर्म मनुष्य का शत्रु नहीं, मित्र है। धर्म को जो अपयश प्राप्त हुआ वह इस कारण नहीं कि धर्म बुराई है, प्रत्युत, इस कारण कि बुरे मनुष्यों ने धर्म का दुष्प्रयोग किया है। वस्तुतः यूरोप की आधिभौतिकता मनुष्य के सम्पूर्ण कल्याण का मार्ग

नहीं है। कल्याणमय वह तभी हो सकती है, जब उसके साथ धर्म का प्रयोग हो।” भारतीय ज्ञान केवल भारतीय राष्ट्र के ही पुनरुत्थान के लिए आवश्यक नहीं है, वह मनुष्य-जाति मात्र के पुनःशिक्षण के लिए भी जरूरी है।”

यह राधाकृष्णन की विचारधारा का एक पक्ष है। किन्तु वे भारतीय समाज के सुधारक मात्र नहीं हैं। सच पूछिए तो भारतीय सुधारक राममोहन, केशवचन्द्र, दयानन्द, विवेकानन्द और तिलक ही हुए हैं। गांधी और अरविन्द तथा रवीन्द्रनाथ का ध्येय भारतीय समाज से अधिक मानव-जाति का सुधार अथवा रूपान्तरण था। विश्ववाद की जो भावना गांधीजी के कर्मयोग, अरविन्द की साधना और रवीन्द्र के काव्य में प्रतिफलित हुई, राधाकृष्णन ने उसका सम्पूर्ण दर्शन प्रस्तुत किया है। और इस दर्शन की रचना करने में उन्हें गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द की अनुभूतियों से सहायता भी यथेष्ट मिली है।

गांधीजी के सदृश राधाकृष्णन भी जीवन के कुछ क्षेत्रों को धार्मिक और कुछ को धर्म-निरपेक्ष नहीं मानते। धर्म का प्रवेश वे जीवन के प्रत्येक कार्य में चाहते हैं। उसी प्रकार, जैसे अरविन्द का यह विश्वास था कि मनुष्य का कल्याण आत्मा के धरातल पर आसीन होने में है, मानस से परे अतिमानस की स्थिति को प्राप्त करने में है, वैसे ही राधाकृष्णन भी आत्मा के जीवन को मनुष्य का काम्य बताते हैं एवं ज्ञान से आगे बढ़कर सम्यक् ज्ञान अथवा सहज ज्ञान के उपयोग को उसका श्रेष्ठ साधन कहते हैं। और जिस विश्ववाद के स्वप्न हमें रवीन्द्र की रचनाओं में मँडलाते मिलते हैं, उन स्वप्नों को दार्शनिक आकार देकर राधाकृष्णन ने विश्ववाद की कल्पना को स्थायी बना दिया है।

पूर्व और पश्चिम का मिलनः

रवीन्द्रनाथ के विषय में यह प्रायः कहा जाता है कि वे केवल भारतीय संस्कृति की उपज नहीं थे, प्रत्युत उनकी उत्पत्ति के पीछे यूरोपीय ज्ञानधारा का भी हाथ था। किन्तु यह उक्ति रवि बाबू पर जितनी लागू है, उससे अधिक यह श्री राधाकृष्णन पर

लागू की जा सकती है। उनका आविर्भाव भारतीय विचारधारा के व्याख्याता के रूप में हुआ, किन्तु पाश्चात्य विचारधारा का भी उन्होंने थोड़ा आख्यान नहीं किया है। वस्तुतः उनके उद्भव के पीछे पूर्वी और पश्चिमी, दोनों विश्वों की दार्शनिकता का हाथ रहा है। उन्होंने भारत की व्याख्या यूरोप के सामने और यूरोप का आख्यान भारत के समक्ष किया है। किन्तु इतने से ही उनकी महत्ता की इतिश्री नहीं हो जाती। इससे आगे बढ़ कर उन्होंने यूरोप और भारत अथवा पूर्व एवं पश्चिम की विचारधाराओं के बीच एक समन्वय का सन्धान किया है, एक सामंजस्य का पता लगाया है एवं दोनों विश्वों की विचारधाराओं को उन्होंने पास-पास ला दिया है।

विश्व की दार्शनिक विचारधारा को उन्होंने एक नया मोड़ दिया है, संसार के चिन्तकों को उन्होंने एक नई उत्तेजना दी है कि पश्चिम जिस उच्च दर्शन का अभिमान करता है, पूर्वी जगत् के पास भी वैसा दर्शन विद्यमान है और विश्व का कल्याण एक ऐसे सामासिक दर्शन को खड़ा करने में है, जिसमें पूर्वी और पश्चिमी, दोनों के श्रेष्ठ तत्त्व समन्वित हों। संसार के कोलाहल में उन्होंने सांस्कृतिक समन्वय की माधुरी का संचार किया है जिससे विश्व-दर्शन की उत्पत्ति दिनों-दिन सम्भव होती जा रही है। विज्ञान के चलते संसार सिकुड़ कर छोटा हो गया है। एक देश का ज्ञान दूसरे देश के लोगों तक अनायास ही पहुँच रहा है। विचारों की टकराहट से एक नई चेतना उत्पन्न हुई है कि मनुष्य-जाति एक है, वह एक समान आचरण करती हुई एक ही दिशा की ओर जा रही है। आदमी पूर्व का हो या पश्चिम का, उसकी शारीरिक आवश्यकताएँ एक हैं, उसकी आत्मिक आवश्यकताएँ, परम्पराएँ समान हैं। देशों की दीवारें खींचकर हम मनुष्य को मनुष्य से अलग नहीं रख सकते। प्रत्येक देश के मनुष्य की जिज्ञासा इन दीवारों से ऊपर उठकर एक ही दिशा की ओर प्रभावित हो रही है। “सभी मनुष्यों की

मनोदशाएँ और रीतियाँ अब एक ही मानवचेतना के अंग हैं। मनुष्य का दर्शन मनुष्य है। क्षितिज पर एक नए मानवतावाद का उदय हो चुका है। इस बार वह भेदभाव से ऊपर उठकर समग्र मानव-जाति का आलिंगन करेगा।” हमें ऐसे आदर्शों एवं ऐसी संस्थाओं को अस्तित्व में लाना है, जिनके भीतर से विश्वात्मा अपनी अभिव्यक्ति कर सके। उनका ध्येय विश्व-जीवन को एक नए सँचें में ढालना, मनुष्य को जीने का एक नया ढंग सिखाना है एवं इस कार्य में वे पूर्वी धर्मों, विशेषतः हिन्दू-धर्म और बौद्ध मत के कुछ अमर सत्यों का बड़ा महत्त्व मानते हैं।

आधुनिक भारत राजनीतिक एवं सांस्कृतिक, दोनों ही दृष्टियों से पूर्व और पश्चिम का युद्ध-क्षेत्र रहा है। राधाकृष्णन का जन्म इसी संघर्ष से हुआ है। कुछ लोग इस जागरण को अतीत का पुनरुज्जीवन (रिवाइवल) कह कर इसकी महत्ता को कम करते हैं। किन्तु यह अतीत का पुनरुज्जीवन मात्र नहीं था। “देखना यह है कि अतीत को खींच कर वर्तमान की भूमि पर लानेवाले लोग कौन थे? ये वे लोग थे, जिन्होंने ऊँची शिक्षा पाई थी, जो अँगरेजी के विश्वविद्यालयों से तेजस्वी होकर निकले थे। इन्हीं पाश्चात्य ढंग के पण्डितों ने अतीत की नई व्याख्या करके उसे वर्तमान के अनुरूप बनाया। अतएव भारत में अतीत ने वर्तमान को अपना विरोधी नहीं माना, न उसने उसपर अपना आधिपत्य ही जमाना चाहा। सांस्कृतिक जागरण के क्रम में भारत के अतीत ने भारत के वर्तमान के साथ सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित कर लिया। वस्तुतः अतीत और वर्तमान के बीच का यह समन्वय भारत में पूर्व और पश्चिम का ही समन्वय था। इस समन्वय की अभिव्यक्ति कला, साहित्य आदि में होती आ रही थी। किन्तु दर्शन के स्तर पर इस समन्वय को मूर्तिमान रूप श्री राधाकृष्णन ने प्रदान किया।

राधाकृष्णन अतीत की उपेक्षा नहीं सिखाते। परम्पराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को बाँधनेवाली

कड़ियाँ होती हैं। प्रगति उन्हीं विचारों के भीतर से जन्म लेती हैं, जिन्हें वह कुचलती-सी जान पड़ती है। जीवन की यात्रा अतीत को त्यागकर नहीं होती। जीवन तो अतीत को मानकर ही चलता है। जीवन अतीत को लेकर भविष्य की चादर बुनता है और इसी बुनावट के क्रम में, अतीत का पुनर्जन्म होता है।

मुख्य बात यह है कि हम याद भी रखें और नई रचना भी करते जायें। उपेक्षा न तो पूर्व की करनी है, न पश्चिम की, न तो वर्तमान की करनी है, न अतीत की। अतीत से बिलकुल छिन्न होना किसी के लिए भी सम्भव नहीं होता, न कोई लौटकर अतीत में पहुँच ही सकता है। पूर्वी जगत् में पश्चिम का आगमन वापस जाने को नहीं, बल्कि, यहाँ ठहरने को हुआ है। इसी प्रकार पूर्व ने पश्चिम को जो आध्यात्मिक उत्तेजना दी है, वह भी वहाँ की संस्कृति को अनुप्राणित करनेवाली है।

राधाकृष्णन का सन्देश है कि मनुष्य का भावी कल्याण इसमें है कि वह अतीत और वर्तमान तथा पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय का पता लगाए तथा सामंजस्य स्थापित करे। जब तक एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों से नहीं मिल सकते थे, तब तक देश-देश में जातीय दर्शन रचे जाने का थोड़ा-बहुत औचित्य था। किन्तु अब जब विचारों के आदान-प्रदान में कोई बाधा नहीं रह गई है, तब राष्ट्रीय दर्शनों का औचित्य क्या हो सकता है? मनुष्य मात्र की आध्यात्मिक आवश्यकता यदि एक है तो उसका दर्शन भी एक होना चाहिए। और श्री राधाकृष्णन ने अब तक जो कुछ भी लिखा है, वह इसी विश्व-दर्शन का आख्यान है।

राधाकृष्णन का जन्म-काल भारत में पूर्व और पश्चिम के विवाद का काल था, किन्तु राधाकृष्णन इस विवाद में किसी के भी पक्षपाती नहीं हुए। विश्व-मानव की समस्याओं का हाल उन्होंने केवल पुस्तकों से नहीं जाना, बल्कि अपने विश्व-भ्रमण के क्रम में वे उनसे सीधा परिचय प्राप्त करते गए। अन्ततोगत्वा वे इस निष्कर्ष पर जा पहुँचे कि दोष

यूरोप का नहीं, प्रत्युत उस दृष्टिकोण का है, जिसकी अधीनता में आकर मनुष्य शरीर के सुख को अपना सर्वस्व मान बैठता है। दोष उस विचारधारा का है, जिसने मनुष्य को अपनी आत्मा को भूमि से उखाड़कर अलग कर दिया है। अतएव मनुष्य को आत्मा की ओर उन्मुख करने का कार्य उनका सबसे प्रिय कार्य हो उठा।

दर्शन की उत्पत्ति जीवन से:

राधाकृष्णन दर्शन को केवल मानसिक व्यायाम का साधन नहीं मानते। उनका विश्वास है कि दर्शन भी मनुष्य की समकालीन आवश्यकता में जन्म लेता है और उसका उद्देश्य मनुष्यों की मिजासा का समाधान खोजना तथा उन्हें सन्तुष्ट करना है। इसीलिए राधाकृष्णन ने जो कुछ लिखा है, वह केवल बुद्धि की तुष्टि के लिए नहीं है, प्रत्युत उससे समकालीन समस्याओं का समाधान भी प्राप्त होता है। वे एक साथ दार्शनिक, कवि और सुधारक हैं। इसीलिए उनके लेखों से जीवन को गति मिलती है, मन को प्रेरणा एवं धार्मिक भावों को स्फूर्ति प्राप्त होती है। उनका दर्शन तर्क से निकल कर तर्क में ही विलीन नहीं होता, प्रत्युत वह मनुष्य के हृदय में प्रवेश करता है।

वे सोद्देश्य दार्शनिक हैं एवं उनका उद्देश्य मनुष्य मात्र को शान्ति प्रदान करना है। “जो लाखों-लाख मनुष्य धार्मिक दृष्टि से विस्थापित हो गए हैं और शरणार्थी की भाँति कला, विज्ञान, फासिस्टवाद, नाजीवाद अथवा मानवतावाद एवं साम्यवाद के अस्थायी शिविरों में आश्रय खोज रहे हैं, उनके भीतर आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आस्था जगाना मेरा सबसे प्रिय कार्य रहा है। रोग-मुक्ति का प्रथम सोपान विचारों की उस विधुंखलता को ठीक से समझना है जिसमें करोड़ों मानव फँसे हुए हैं। शंका और नास्तिकता की प्रवृत्ति को सबसे बड़ी उत्तेजना वैज्ञानिक दृष्टिकोण की वृद्धि से मिली है, टेकनालाजी (उद्योग-विज्ञान) पर आधारित सभ्यता से मिली है। मनुष्य की सामाजिक चेतना जाग्रत हो गई है और वह बाह्याचारों से ग्रसित कृत्रिम

धर्म का विरोध कर रही है।”

विज्ञान पर विचार:

राधाकृष्णन ने विज्ञान का अनादर नहीं किया है, किन्तु उसके जो दोष हैं उनकी उन्होंने खुल कर भर्त्सना की है। मनुष्य का ध्यान ईश्वर, आत्मा और धर्म से हटाने में विज्ञान ने क्या अंशदान किया है, इसे दिखाते हुए वे कहते हैं कि बायलानी (जीव-विज्ञान) का आध्यात्मिक प्रभाव यह हुआ है कि मनुष्य किसी भी कार्य में अपने को स्वाधीन नहीं मानता। उसका विश्वास है कि प्राकृतिक नियमों की अधीनता में जैसे अन्य जीव चलते हैं, मनुष्य भी उसी प्रकार चलता है। परिस्थितियाँ जैसी होंगी, मनुष्य के कार्य भी वैसे ही होते जाएँगे। अग्नि से जैसे और जीव तप्त होते हैं, वैसे ही मनुष्य को भी तप्त होना पड़ेगा। वासनाएँ जैसे अन्य जीवों को अपना दास बना लेती हैं, मनुष्य के आगे भी उसके सिवा और कोई चारा नहीं है।

इसी प्रकार मनोविज्ञान ने मनुष्य को यह शिक्षा दी है कि सज्जन अवस्था में भी वह स्वाधीन नहीं है। ऊपर ज्ञान और चेतना की जैसी भी रोशनी फैली हुई हो, मानव-मन में पशुता के आवेग ज्यों-के-त्यों वर्तमान हैं और मनुष्य के सारे कार्य इन्हीं आवेगों से परिचालित होते हैं। मनुष्य वातावरण का बन्दी है। उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जिससे वह वातावरण का अवरोध या उससे अपनी रक्षा कर सके। विज्ञान की पृष्ठभूमि पर निर्मित अभिनव नीति-शास्त्र का भी कहना है कि सनातन या नित्य कहलाने योग्य कोई नैतिक मूल्य नहीं है। नैतिक मूल्य भी बादलों के समान क्षणभंगुर होते हैं और जो परिस्थितियाँ उनमें परिवर्तन लाती हैं, उनपर हमारा कोई अधिकार नहीं है तथा अभिनव तत्त्वज्ञान की मान्यता है कि जो वस्तु इन्द्रियों के द्वारा अथवा वैज्ञानिक साधनों के माध्यम से देखी या परखी नहीं जा सकती, वह सत्य नहीं मानी जानी चाहिए। जिस तत्त्वज्ञान में विचार, आत्मा और परमात्मा को लेकर चलता है, उसे अभिनव तत्त्वज्ञानी अटकल या अनुमान कहते

हैं। कविता और उपन्यास की भाँति धर्म और तत्त्वज्ञान भी विद्या के अंग अवश्य हैं, किन्तु वे केवल भावाभिव्यक्ति के माध्यम हैं, उनके ज्ञान की तृषा शान्त नहीं होती। यही नहीं, विज्ञान यह भी कहता है कि एक दिन विश्व की गति समाप्त हो जायगी और सब कुछ निर्जीव हो जायगा।

विज्ञान ने आधिभौतिक सुखों में तो काफी वृद्धि की, किन्तु मनुष्य के मन को उसने विषण्ण बना डाला। आत्मा, परमात्मा एवं सृष्टि के ध्येय और उद्देश्य को अविचारणीय बताकर उसने मनुष्य को, मानो यह शिक्षा दी है कि तुम्हारा काम जनमना, बढ़ना, कमाना और खर्च करना, सन्तान उत्पादन करके वृद्ध होना और फिर इस विश्वास को लेकर मर जाना है कि मनुष्य-शरीर भी प्रकृति-परिचालित यन्त्र है और इस यन्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त मानव-जीवन का और कोई ध्येय नहीं है।

इतना सद्दोष होते हुए भी विज्ञान सार्वभौम तत्त्व है। जैसे देश-देश अनेक धर्म एक-दूसरे से आगे निकल जाने को बेचैन हैं, वैसी प्रतियोगिता विज्ञान में नहीं है। वैज्ञानिक अनुसन्धान या आविष्कार चाहे जिस किसी देश में होता हो, सारे विश्व के वैज्ञानिक उसे अपने क्षेत्र की प्रगति मानते हैं। भौगोलिक दृष्टि से भी विज्ञान सार्वभौम विद्या है, क्योंकि इसका प्रचार सारे विश्व में है। प्रकृति चूँकि एक है, इसलिये, विज्ञान भी एक ही हो सकता है। सार्वभौम मानव-जाति का आविर्भाव हो, यह विज्ञान की भी सामाजिक अभिलाषा है। यही नहीं प्रत्युत विज्ञान की सारी शक्तियों के विषय में राधाकृष्णन बड़े ही उत्साह से बोलते हैं। “कृषि और उद्योग में वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से जीवन में अद्भुत क्रान्ति उपस्थित हो गई है। यदि हम चाहें तो अब संसार से क्षुधा, अभाव, दरिद्रता, रोग और अशिक्षा को निकाल बाहर करने में सफल हो सकते हैं। किन्तु ये दुर्गुण संसार में यदि आज भी वर्तमान हैं तो इसका कारण यह है कि हम अन्यायपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय

सम्बन्धों को कायम रखने के लिए वैज्ञानिक शक्तियों का दुरुपयोग कर रहे हैं। गलती विज्ञान और टेकनालाजी में नहीं, मनुष्य के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में है। गलती की असली जगह मनुष्य का औद्योगिक और उपयोगितावादी दृष्टिकोण है, उसका शक्ति, सुविधा और विलासिता का सिद्धान्त है।”

राधाकृष्णन इस बात को भी नजर-अन्दाज नहीं करते कि आज का औसत वैज्ञानिक औसत धार्मिक व्यक्ति से अधिक ईमानदार है। यही नहीं, प्रत्युत आधुनिक विश्व में समाज की प्रगति के प्रायः सारे कार्य ऐसे ही लोगों के नेतृत्व में पूरे किये गए हैं, जिनकी दृष्टि धार्मिक रही हो या नहीं, किन्तु वह वैज्ञानिक अवश्य थी।

राधाकृष्णन मानते हैं कि धार्मिकता आज भी हमारी बाधा नहीं हो सकती। किन्तु मनुष्य जैसे विज्ञान का दुरुपयोग कर रहा है, वैसे ही उसने धर्म का भी दुरुपयोग ही किया है, क्योंकि आज की दुनिया में हम सब-के-सब नास्तिक हैं। हमारा ईश्वरीय सत्ता में विश्वास, हमारी पूजा और प्रार्थना, ये सब कृत्रिम आचार हैं। जब हम पूजा करते होते हैं, तब भी हमारा ध्यान पूजा में नहीं होकर कहीं और होता है। हमारा प्रत्येक कर्म इस बात की गवाही देता है कि हम ईश्वर में विश्वास नहीं करते। हम परमात्मा के सामने नहीं झुककर संसार के सामने झुकते हैं। दुनिया में ऐसी, कोई चीज नहीं है, जो ईश्वर की अपेक्षा हमें अधिक पसन्द न हो। राधाकृष्णन कहते हैं कि यदि हम धार्मिक होने का दावा करते हैं तो धर्म हमें अपने जीवन में उतरना चाहिए। यदि जीवन धर्म निर्जीव सिद्धान्त मात्र रह जाता है।

['संस्कृति के चार अध्याय' से साभार]



धर्म और धर्म-परिवर्तन

□ डा० रामजी सिंह

रूप, रंग, आकार आदि भौतिक विशेषताओं का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर से होता है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि, विद्या, प्रतिभा का सम्बन्ध मानव के हृदय से होता है। लेकिन धर्म का सम्बन्ध तो उसकी आत्मा से ही होता है। इसलिए धर्म मनुष्य की अन्तःप्रवृत्ति है जिसे हम उसका स्वधर्म मानते हैं। इसको वह धारण करता है। यह उसके व्यक्तित्व का अविभाज्य गुण होता है। इसी अर्थ में मनुष्य का धर्म अपरिवर्तनीय होता है; इसीलिए यह हस्तान्तरणीय भी है।

लौकिक अर्थ में धर्म के त्रिविध आयाम होते हैं— धर्म-दर्शन, आख्यान और कर्मकाण्ड। इनके अपने वैशिष्ट्य के कारण धर्म सगुण स्वरूप तो धारण करता है लेकिन यह सम्प्रदाय का रूप ले लेता है। इसी को ऐतिहासिक धर्म की संज्ञा दी जाती है; जैसे— वैदिक-धर्म, जरथुस्त-धर्म, यहूदी-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम, जैन, बौद्ध, ताओ, शिन्तो आदि।

इनकी अलग-अलग उत्पत्ति एवं विकास का इतिहास होता है। इनके अपने-अपने धार्मिक आख्यान एवं कर्मकाण्ड होते हैं। धर्म-दर्शन में सामान्य रूप से ईश्वर, जगत् एवं मानव— इन तीन तत्त्वों के ऊपर विचार अवगुणित रहता है। इनके आख्यान भी इतिहास, किंवदन्ती एवं धार्मिक आस्थाओं से जुड़े होते हैं। फिर धर्म-दर्शन की सूक्ष्मता और निर्गुणता को सगुण स्वरूप प्रदान करने के लिए कुछ प्रतीकों का निर्माण होता है और कर्मकाण्डों का उद्भव होता है। ऐतिहासिक धर्म धीरे-धीरे सम्प्रदाय, पन्थ आदि में विभाजित होते चले जाते हैं; जैसे— वैदिक धर्म की अनेकानेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं— शैव, शाक्त, वैष्णव, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज आदि। इस्लाम में शिया एवं सुन्नी; ईसाई में कैथोलिक

एवं प्रोटेस्टैन्ट, जैन में दिगम्बर-श्वेताम्बर, बौद्ध में हीनयान-महायान आदि हुए। संक्षेप में लौकिक परिवेश में ये सब विचार के साथ ऐतिहासिक एवं भौगोलिक तथा सांस्कृतिक होते हैं। इस कारण से इनके अन्तःसंघर्ष भी होते हैं। जैसे राज्य के लिए क्षेत्र एवं जनसंख्या का होना आवश्यक है उसी तरह शायद साम्प्रदायिक एवं पन्थ-धर्म के लिए क्षेत्र, जनसंख्या आदि का बल होता है और इसीपर वे गर्व करते हैं।

धर्म का विस्तार धर्म के निहित आध्यात्मिक और नैतिक गुणों का विस्तार नहीं, अपितु अपने धर्मावलम्बियों की जनसंख्या का विस्तार है। यही एक प्रकार का धार्मिक साम्राज्यवाद माना जाएगा। धर्म यदि आत्मा का विषय माना जाए तो उसे फिर राजसत्ता से जोड़ने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। धर्मराज्य का अर्थ नैतिक-राज्य होगा न कि किसी धर्म-विशेष का राज्य। शायद इसी अर्थ में सर मुहम्मद इकबाल ने कहा था— “जुदा हो दीन सियासत से वो रह जाती है चंगेजी।” गांधी भी राजनीति को धर्माधारित होने देना चाहते थे। तुलसीदास ने कहा है— “राजनीति बिनु धन बिनु धरमा। हरहि समर्पे सब सतकरमा।” डा० राममनोहर लोहिया ने जब “धर्म को दीर्घकालीन राजनीति और राजनीति को अल्पकालीन” कहा तो उनके मानस में धर्म नैतिकता का पर्याय था। लेकिन आज जो तथाकथित धर्म के नाम पर ‘हिन्दू-राज्य’ ‘इस्लामी-राज्य’ या ‘ईसाई-राज्य’ हैं, उनका मकसद है कि वहाँ धर्म-विशेष का राज्य होगा। राज्य का जो धर्म होगा, उसके माननेवालों के साथ पक्षपात एवं दूसरों के साथ भेद-भाव होगा ही। इस्लामी राज्य में सर्वोच्च पद पर दूसरे धर्म का व्यक्ति नहीं होगा, वहाँ इस्लाम की शरीयत के कानून चलेंगे। इंग्लैंड में

राजा प्रोटेस्टेन्ट ही होगा। रोम में पोप ही शासन करेंगे जो रोमन कैथोलिक ही होंगे।

इसी कारण साम्प्रदायिक धर्म को राष्ट्र और राज्य के साथ जोड़ा जाता है। उनके अनुसार “धर्मान्तरण से राष्ट्रान्तरण होता है।” अतः धर्मान्तरण राष्ट्रद्रोह होगा। दूसरी तरफ राज्य जिस धर्म को मानता है, उसके अलावे दूसरे धर्म को माननेवाले विदेशी या दूसरे दर्जे के नागरिक यह प्राचीन यूनानी शब्दावली में दास होंगे। या मानव-मानव की समानता का बाधक तो है ही, यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो अपार संघर्षों की जड़ है। ईसाई धर्म के ही दो धर्मों के बीच १०० वर्षों तक युद्ध होते रहे, आज भी ईसाइयत एवं इस्लाम आमने-सामने हैं। सम्पूर्ण मध्य-पूर्व यहूदी-इस्लाम-संघर्ष के केन्द्रस्थल हैं, भारत का विभाजन भी साम्प्रदायिक संघर्ष एवं द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त के कारण हुआ और आज भी गुजरात-जैसी त्रासदी हो रही है।

इसी अर्थ में हमें मध्यप्रदेश, उड़ीसा और अब तमिलनाडु में जबरदस्ती धर्मान्तरण के खिलाफ अधिनियम पर विचार होना चाहिए। एक बार १९७८ में भी धर्म-स्वातन्त्र्य के विषय में इसी प्रकार का विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत गया किया था जिसमें जबरन लोभ-लालच और धोखाधड़ी के आधार पर धर्म-परिवर्तन को दण्डनीय अपराध माना गया था। वह विधेयक सम्पूर्ण भारत में ईसाई समुदाय के सशक्त विरोध एवं अन्य राजनीतिक दबाव के कारण वापस कर लिया गया। कुरानशरीफ में भी धर्म में दबाव का स्थान नहीं मानते। इसके खिलाफ कहा जाता है कि धर्म का जब राजनीति से सम्बन्ध नहीं है तब राजनीतियों को धर्म के मामले में पड़ना उचित नहीं, विशेषकर जब भारतीय संविधान के अनुसार यह देश एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है। आज राजनेतागण धार्मिक प्रेरणा से नहीं, बल्कि जनता की धार्मिक भावनाओं का अनुचित शोषण करने के लिए विभिन्न धर्मस्थलों में जाकर माथा टेकते हैं। रोजा के समय अपने-अपने घरों पर ‘आफताही’ करते हैं, मन्दिरों में पूजा आदि करते हैं।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि भारत में धर्मराज्य नहीं है अतः जब धार्मिक कहे जानेवाले लोग धर्म की मर्यादाओं को तोड़कर राज्य के स्थापित नियमों को तोड़ेंगे तो राज्य को हस्तक्षेप करने का आमन्त्रण देना है। उदाहरण-स्वरूप जब आतंकवादी अपनी सुरक्षा एवं अपने जघन्य कृत्य के लिए किसी धर्मस्थान को आश्रयस्थली बनाएँ तब राज्य का हस्तक्षेप अनुचित नहीं होगा। इसी प्रकार यदि बलप्रयोग, लालच या धोखाधड़ी के द्वारा कोई धर्म-परिवर्तन कराता है तो फिर राज्य को अपना कर्तव्य निभाना ही चाहिए; क्योंकि उपर्युक्त तीनों कृत्य फौजदारी कानून के अनुसार अपराध हैं।

फिर यह प्रश्न उठ सकता है कि इन जुर्मों के लिए जब प्रचलित दण्ड-विधान में प्रावधान है ही तब फिर नए कानून बनाने की क्या जरूरत है? इसका एक ही उत्तर दिया जा सकता है कि इस प्रकार के कृत्यों से समाज में तनाव एवं अशान्ति का वातावरण बनता है, अतः इसपर जोर देने के लिए इस सम्बन्ध में विशेष कानून बनाए जाते हैं। ताकि इस प्रकार के अपराधों के वर्जन पर विशेष ध्यान दिया जाए।

यह कहा जा सकता है कि इसमें धर्म-प्रचार तथा शान्तिपूर्ण ढंग से धर्मपरिवर्तन को संविधान के मौलिक अधिकारों में शामिल किया गया है, अतः यह अधिनियम संविधान-विरुद्ध है।

उत्तर में कहा गया है कि मध्यप्रदेश एवं उड़ीसा की धारा सभाओं में इस प्रकार के कानूनों की वैधता को सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार किया है, अतः इन्हें संविधान-विरुद्ध नहीं माना जा सकता है। फिर इन विधेयकों में धर्म-स्वातन्त्रता, धर्म-प्रचार या धर्म-परिवर्तन पर पाबन्दी नहीं है, केवल धर्म-परिवर्तन में बल-प्रयोग, धन के लालच एवं धोखाधड़ी के खिलाफ है।

इसपर यह कहा जाता है कि इस कानून का दुरुपयोग किया जा सकता है और धर्म-प्रचार एवं धर्म-परिवर्तन को परोक्ष रूप से बाधा होगी जो प्रकारान्तर से संविधान की मूल भावना के खिलाफ होगा। पुलिस ही धार्मिक विश्वासों एवं आस्थाओं

के औचित्य का निर्णायक होगी जबकि यह तो व्यक्ति की चीज है। किन्तु कहा जा सकता है कि उड़ीसा या मध्यप्रदेश में इस सम्बन्ध में मुकदमें हुए ही नहीं; यदि हुए भी हों तो कम। इससे स्पष्ट है कि राज्य किसी तरह का भेदभाव नहीं करता है।

जहाँ तक तमिलनाडु में ऐसा कानून बनाने का प्रसंग है, वहाँ कन्याकुमारी जिले में हिन्दू एवं ईसाइयों के बीच धर्म-परिवर्तन को लेकर संघर्ष होने के फलस्वरूप जाँच के लिए न्यायमूर्ति वेणुगोपाल को नियुक्त किया गया जो इ.वी. रामास्वामी नायकर के शिष्य थे। वे किसी धर्म को नहीं मानते थे। वे न तो हिन्दुत्ववादी थे न कट्टरपन्थी थे। बल्कि वे तो हिन्दू-धर्म की प्रत्येक मूलभूत अवधारणा के विरोधी थे। फिर भी उन्होंने जाँच में पाया कि धर्म-परिवर्तन के क्रम में ईसाइयों ने सभी प्रकार के अनुचित माध्यमों का इस्तेमाल किया। सामूहिक धर्म-परिवर्तन से सामाजिक तनाव भी बढ़ा। अतः उन्होंने इसके लिए एक कानून बनाने की अनुशंसा की और अधिनियम का प्रारूप भी १९८६ में दिया था। फिर एम०जी०आर० बीमार हो गए और विधेयक दबा रहा; जो इधर पारित किया गया। विधेयक में केवल ईसाइयों द्वारा धर्म-परिवर्तन की बात नहीं है। इसमें यह एक सामान्य बात है।

यह स्पष्ट है कि ईसाई, इस्लाम एवं बौद्ध धर्म में धर्म-परिवर्तन को धार्मिक कृत्य माना जाता है, लेकिन यह भी सही है कि धर्म-परिवर्तन के क्रम में सत्ता, लाभ-लोभ आदि का भी उपयोग हुआ है। यह भी एक कारण है कि अनपढ़, अशिक्षित एवं अकिंचन समुदायों का विशेष धर्म-परिवर्तन हुआ है। हाँ, इसको भी मानना पड़ेगा कि हिन्दू जाति में अस्पृश्यता एवं ऊँच-नीच के भेदभाव के चलते भी धर्म-परिवर्तन को प्रोत्साहन मिला है। अतः राज्य का द्विविध आयामी कर्तव्य है कि हिन्दू समाज के इस भेदभाव के खिलाफ सख्त कदम उठाए और कमजोर वर्गों को बलात् धर्म-परिवर्तन से भी रक्षा करे।

धर्म-परिवर्तन भले ही एक धार्मिक कृत्य माना जाए किन्तु बलात्, लालच देकर या धोखाधड़ी

से धर्म-परिवर्तन कभी भी धार्मिक कार्य नहीं है, नीति एवं कानून के भी खिलाफ है। धर्म-परिवर्तन स्वेच्छा से कोई करता है, उसमें किसी को विरोध नहीं हो सकता है किन्तु धर्म-परिवर्तन के लिए कोई स्थायी एवं व्यापक संस्थान बनाया जाए तो उसमें उत्साह में कमी, लालच एवं दबाव भी आ जाता है।

धर्म एक अत्यन्त पवित्र चीज है, इसका मूल तत्त्व आध्यात्मिक है। उसे धर्म में जनसंख्या-विस्तार आदि के लोभ से जोड़ना उचित नहीं। ये सब तो भौतिक अभीप्साएँ हैं। धर्म-परिवर्तन का एक दूसरा निहितार्थ भी निकलता है कि “मेरा अपना धर्म सर्वश्रेष्ठ है, इसी के माध्यम से हम मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यही एक मात्र रास्ता है।” इसका अर्थ हुआ कि दूसरे धर्म हमारे धर्म से हीन हैं। इससे एक तरह यदि अपने धर्म के प्रति अहंकार का सृजन होता है तो दूसरे धर्मों के प्रति हीनता प्रकट होती है। तीसरी बात तो इसी से उभर कर आती है कि हमसब यह कहते हैं कि सभी धर्मों की बुनियादी एकता है, सब के मूल में एकता है। तो यह क्या केवल शिष्टाचार-वश कहते हैं या इस कथन में हमारा जीवित विश्वास भी है? यदि हम इसे सचमुच सही मानते हैं तो हमें एक धर्म से दूसरे धर्म में ले जाने की उत्कटता क्यों होनी चाहिए? एक सच्चा हिन्दू एवं एक सच्चा मुसलमान या ईसाई एक ही समान आध्यात्मिक, पवित्र एवं नीतिमान हैं।

इस सन्दर्भ में गांधीजी का एक उदाहरण अप्रसंगिक नहीं होगा। मिस स्नेड या मीरा बहन गांधीजी के पास रहकर उनके पवित्र जीवन से इतनी प्रभावित हुईं कि उन्होंने एक दिन उनके सामने प्रस्ताव रखा कि “बापू, मुझे हिन्दू बना लें।” बापू ने पूछा “क्यों”? मीरा बहन ने कहा कि आप हिन्दू होने के नाते ही तो इतना पवित्र एवं आध्यात्मिक हैं। गांधीजी ने उत्तर दिया— “यदि तुम ठीक से बाइबिल पढ़ोगी तो तुम्हें यही पवित्रता एवं आध्यात्मिकता मिलेगी। तुम सच्चे ईसाई बनो।”

अभी मदुराई के पास एक विद्वान् प्रो० जेसु दास ने बताया कि एक हिन्दू नौजवान उनके

पास आया और कहा मुझे ईसाई बना लें। इन्होंने विनम्रतापूर्वक इंकार किया। कुछ दिनों के बाद वह दूसरे ईसाई पुरोहित के पास गया और उसे ईसाई बना लिया गया। लेकिन कुछ महीनों के बाद वह ईसाईयत छोड़कर इसलिय चला गया कि उसे कोई आर्थिक लाभ नहीं मिल सका, जिसके लिए उसने ईसाई बनने की पहल की थी। अतः लोभ-लालच से धर्म-परिवर्तन करनेवाला या करानेवाला दोनों को ही धर्म-भाव से विलग माना जायगा। अतः अगर राजनीति में सह-अस्तित्व का सिद्धान्त चल सकता है तो धर्म के क्षेत्र में भी सह-अस्तित्व चलने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। इसीलिए जब स्वामी विवेकानन्द ने व्यक्तिगत धर्म (Personal Religion) के स्थान पर “विश्व-धर्म” (Universal Religion) की बात रखी थी तब उसका अर्थ यही था कि प्रत्येक धर्म की वैशिष्ट्यपूर्ण अच्छाई को हमें सादर स्वीकार करना चाहिये; जैसे- हिन्दू-धर्म की आध्यात्मिकता, इस्लाम का भ्रातृत्व एवं ईसाई धर्म की सेवा एवं त्याग-भावना आदि।

उन्होंने तो कहा था कि इस्लामी शरीर एवं वेदान्ती मस्तिष्क का समन्वय ही भारत के लिए अपेक्षित है। यही धर्म-समन्वय की भावना है।

इसीलिए रवीन्द्रनाथ ने व्यक्तिगत-धर्म के स्थान पर ‘मानव-धर्म’ का विचार रखा था और गांधीजी ने सर्व-धर्म-समभाव का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था।

धर्म जब सत्ता का रूप ग्रहण कर लेता है तब उसमें संघर्ष अवश्यम्भावी हो जाता है। जिस प्रकार राजनीतिक एवं आर्थिक साम्राज्यवाद गलत हैं, उसी प्रकार धार्मिक साम्राज्यवाद भी गलत है। अब जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में देशों का महासंघ या विश्व सरकार की दिशा में ‘संयुक्त राष्ट्र संघ’ आदि तथा आर्थिक क्षेत्र में विश्व-बैंक का अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व-व्यापार संघ बने हैं, उसी प्रकार विश्वधर्म के प्रथम चरण में ‘विश्व धर्म संसद्’ सम्भव है। धर्म को तो इस दिशा में नेतृत्व लेना होगा, वरना इसका सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक वैशिष्ट्य तिरोहित हो जायगा। धर्म पर तो अर्थ एवं

काम, राजनीति एवं समाज सब आश्रित रहते हैं। अतः उसे आर्थिक उदारता दिखानी ही पड़ेगी।

भारत विभिन्न धर्मों एवं धर्म-पन्थों का संग्रहालय है। इसका धर्म वास्तव में समन्वय-धर्म है, इसकी संस्कृति सामासिक संस्कृति रही है। अपवादों को छोड़कर हजारों सालों से विभिन्न धर्मों के लोग साथ-साथ रहते आए हैं। अँगरेजों ने यहाँ द्विराष्ट्रवाद को प्रश्रय देकर भारत का विभाजन कर दिया। आज पुनः हम प्रतिक्रिया में ‘हिन्दू राष्ट्र’ की बात करते हैं। इसका अर्थ है मुसलिम, सिख, ईसाई आदि भी अपने-अपने समाज के लिए अपना-अपना निवास-प्रवेश माँगेंगे। अल्पसंख्यक जब पृथक्तावादी होता है तब आतंकवाद का आविर्भाव होता है, लेकिन यदि बहुसंख्यक पृथक्तावाद की ओर अभिमुख होता है तब देश का पूर्ण बिखरण होगा। अतः इन संवेदनशील सवालों पर व्यापक एवं दूर दृष्टि से विचार करना होगा।

तमिलनाडु सरकार द्वारा प्रस्तुत एवं अब विधान सभाओं द्वारा पारित धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी अधिनियम की जरूरत नहीं होती, यदि परम्परागत हिन्दू-समाज में असंपृश्यता का कलंक नहीं कायम रहता एवं दलित वर्ग के साथ अन्याय नहीं होता। यह भी एक कारण है कि दलित धर्म-परिवर्तन करते हैं एवं सामूहिक धर्म-परिवर्तन का भी दृश्य देखने में आता है। धर्म-परिवर्तन बल प्रयोग से नहीं होना चाहिये, लेकिन इस अधिनियम को स्वेच्छया धर्म-स्वातन्त्र्य को दबाने का हथकण्डा भी नहीं बनाना चाहिये। इससे राष्ट्रीय एकतात्मता भंग होगी। साथ ही इस अधिनियम का दुरुपयोग भी प्रत्युत्पादक होगा। कहीं भ्रष्ट प्रशासन या साम्प्रदायिक मिजाज के लोग दण्ड-विधान का उण्डा लेकर भ्रष्टाचार का द्वार न खोल दें।

पूर्व विभागाध्यक्ष,
गांधी विचार विभाग,
भीखनपुर, गुमटी न०-१,
भागलपुर



योगवासिष्ठ और मुसलमान

□ प्रताप कुमार मिश्र

भारत अपने धर्म, दर्शन, अध्यात्म, रीति-नीति, आचार-विचार और अपनी गुणवत्ता के कारण काल के अनन्त प्रवाह एवं उसके झंझावातों पर विजय प्राप्त कर आज तक अपने उन्नत एवं गौरवपूर्ण अस्तित्व को सुरक्षित रख पाया है। विभिन्न संस्कृति-सभ्यताओं, आचार-विचारों, धर्म-दर्शनों, रीति-रिवाजों को आत्मसात् कर उन सभी को अनुप्राणित करता हुआ यह आज तक अपने अविच्छन्न-स्वरूप को प्रतिष्ठित। इन सबका मूल कारण है भारतीयता, जो अनेक धाराओं एवं अपनी कालजयी आकर कृतियों पर टिकी है।

भारत धर्मानुप्राणित एक हिन्दू राष्ट्र है और इस धर्म का मूल वेदों में कहीं सुरक्षित है जिसे मनु ने हजारों वर्ष पूर्व स्पष्ट करते हुए उसका लक्षण प्रस्तुत किया था— धृतिः क्षमा दमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः इत्यादि। वेदों (वैदिक साहित्य) के बाद वाल्मीकीय रामायण और उसके बाद वसिष्ठ मुनि-प्रणीत योगवासिष्ठ हमारी सभ्यता-संस्कृति, आचार-विचार, धर्म एवं दर्शन का आकर एवं मानक-ग्रन्थ है।

योगवासिष्ठ, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के जीवन-दर्शन को प्रतबिम्बित करनेवाला एक स्वच्छ व निर्मल दर्पण है। यूं तो आदिकवि ने इस सूर्यवंशी पुरुषसम्राट् के जीवन से सम्बन्धित किसी भी पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा है किन्तु भारतीय दार्शनिक-मनीषा केवल श्रीराम की लौकिक जीवनलीला एवं मर्यादा पुरुषोत्तमत्व मात्र से सन्तुष्ट नहीं थी। फलतः मनीषियों ने महामहेश्वर श्रीराम के जीवनदर्शन एवं उनके रहस्यों को प्रकाश में लाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार श्रीराम के

जीवन-दर्शन का जो एक अन्य रहस्यास्पद दार्शनिक स्वरूप उभरा उसे एक विशाल ग्रन्थ में समाहित कर लिया; और कालान्तर में यह ग्रन्थ भारतीय जीवन-दर्शन के आकर के रूप में योगवासिष्ठ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ध्यान रहे वाल्मीकीय रामायण एक कथा, है— सूर्यवंशी क्षत्रिय-राजकुमार की, उनके लौकिक जीवन की, दो सभ्यताओं के उत्थान एवं पतन की। यह एक आदर्श है— पिता के वचन पर सर्वस्व समर्पित करनेवाले सद्यः परिणीत एक नवयुवक राजकुमार का, एक प्रजावत्सल राजा का, एक आदर्श पति, पिता एवं भाई का। एक दर्पण है— अच्छे एवं बुरे कर्तव्यों का, उनके सुपरिणामों एवं हृदयविदारक दुष्परिणामों का। राक्षसीय और मानवीय समाज का। रामायण में जीवन-दर्शन की अपेक्षा जीवन को, दर्शन की अपेक्षा धर्म को, ब्रह्मज्ञानी एवं जीवन्मुक्त राम की अपेक्षा एक प्रजानुर्जक राजा को, निराकार की अपेक्षा साकार एवं मूर्तिमान को अधिक प्रश्रय दिया गया है। किन्तु योगवासिष्ठ में इसके विपरीत जीवन की अपेक्षा जीवनदर्शन को, धर्म की अपेक्षा अध्यात्म को एवं जीवन-दर्शन के रहस्यों को, ज्ञान की अपेक्षा उसके आचरण को, उपभोग की अपेक्षा उपभोग्यों के रहस्य के ज्ञान को अधिक महत्त्व एवं प्रश्रय प्रदान किया गया है।

इस प्रकार रामायण और योगवासिष्ठ एक ही महापुरुष के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों को प्रस्तुत करनेवाले हमारे ऐसे धर्मग्रन्थ हैं जिनमें प्रथम, उदात्त मानवीय जीवन की ओर तो दूसरा इस उदात्त एवं आदर्श मानवीय जीवन के दर्शन व

उसके रहस्यों की ओर प्रेरित कर मानवमात्र के चातुर्दिक विकास एवं इहलोक से लेकर परलोक तक का, अनन्त शान्ति (मोक्ष) तक का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

भारत के जिस अक्षय ज्ञान-विज्ञान के भण्डार पर अतिशय मुग्ध होकर विश्व ने इसे अपना गुरु माना था, अनेकानेक विदेशी यात्रियों, ज्ञानी पण्डितजनों, विद्वानों, विचारकों, दार्शनिक तथा बुद्धिजीवियों ने इसका लोहा माना था; उसमें योगवासिष्ठ की अहं भूमिका को कतई नकारा नहीं जा सकता। साथ ही, यह भी नहीं भूलना चाहिये कि इन विदेशी यात्रियों, अन्य संस्कृति के अनुयायी, सनातन-धर्मोत्तर धर्मावलम्बियों में प्रथमतः मुसलमानों ने ही भारतीय इस लोकोत्तर मनीषा (ज्ञान-विज्ञान) से परिचय व साक्षात्कार प्राप्त किया था।

इस प्रसंग में हम बता देना आवश्यक है कि यूनानी ज्योतिर्विद् 'टॉलमी', 'पाइथागोरस', गणितविद् 'अलख्वारिज़्म' एवं Indology के महान् व स्वनामधन्य अध्येता अरबयात्री अलबेरुनी आदि विद्वानों तथा बुयाजीद वंशीय सुल्तानों, ईरानवासी सम्राट् नौशेरवां और अरब के खलीफा अब्बासियों, अल्मंसूर, अल्रशीद, अल्मामून इत्यादि खलीफा शासकों ने ही प्रथमतः ईसा की तीसरी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक भारतीय ज्ञान-विज्ञान के महत्त्व को स्वीकार कर सल्लनतकालीन, मुगलकालीन, उत्तरमुगलकालीन तथा आधुनिक मुसलमानों (शासकों, विद्वानों) ने भी इस ज्ञान-विज्ञान व इसकी संवाहिका संस्कृत-भाषा का अध्ययन, मनन, चिन्तन, लेखन एवं शोध व तत्सम्बद्ध रचनात्मक कृत्यों को जारी रखा।

ज्ञान-विज्ञान के इस अगाध भण्डार में मुसलमानों को जिस ग्रन्थरत्न ने सबसे अधिक प्रभावित किया वह योगवासिष्ठ ही है। आज कतिपय कारणों से अवश्य ही हमारे और मुसलिम-सम्प्रदाय

के बीच एक अन्तर की खाई पट गई हो किन्तु ध्यान रहे एक ऐसा भी समय था जब किसी ब्राह्मण के मुँह से योगवासिष्ठ के दार्शनिक पद्यों को सुनते समय किसी मुसलिम शासक के आँखों से आँसू छलक पड़ते, वह संज्ञानशून्य हो उठता, विगलित वेद्यान्तर आनन्द के प्रवाह में डूब जाता। इस अन्तर की खाई को पाटने के उद्देश्य में सम्भव है योगवासिष्ठ से सम्बन्धित निम्नलिखित सूचनाएँ उपयोगी हो सकें, इस अभिप्राय से हम मुसलमानों के संस्कृत-अध्ययन के अन्तर्गत उनके द्वारा किये गए या कराए गए योगवासिष्ठ के अध्ययन, उसके अरबी, फारसी में किये या कराए गए अनुवाद या योगवासिष्ठ के आधार पर निर्मित कृतियों की एक सूचना, संक्षिप्त-विवरण प्रस्तुत करते हैं—

(१) सर्वप्रथम किसी मुसलमान-विद्वान् के द्वारा योगवासिष्ठ के अध्ययन की सूचना हमें अलबेरुनी के रूप में प्राप्त होती है। अपनी पुस्तक 'किताबुल-हिन्द' में वह रामायण के साथ-साथ योगवासिष्ठ की सूचना भी देता है किन्तु उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार वह अन्य संस्कृतग्रन्थों के विषय में अपना स्पष्ट मत प्रस्तुत करता है उस प्रकार रामायण तथा योगवासिष्ठ के विषय में नहीं। उसकी सूचनाओं से यह तो स्पष्ट है कि उसने रामायण की किसी प्रत्यक्ष संस्कृत-प्रति को नहीं पढ़ा अपितु भारत आने से पहले ही वह इसका अरबी-अनुवाद अपने देश में ही पढ़ चुका था किन्तु योगवासिष्ठ के विषय में उसकी लिखित सूचनाएँ अपर्याप्त हैं।

(२) योगवासिष्ठ का सबसे बड़ा भक्त मुसलिम शासक, सल्लनतकाल के अन्तिम चरण में कश्मीर का सुल्तान जैनुलादीन हुआ। उसे योगवासिष्ठ एवं इसके दार्शनिक सिद्धान्तों, शिक्षाओं, उपदेशों, गूढ़ रहस्यों से इतना प्रेम था कि वह प्रतिदिन इसका श्रवण करता था। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार योगवासिष्ठ, गीतगोविन्द तथा

मोक्षोपमसंहिता (मोक्षप्रतिपादक एक प्राचीन ग्रन्थ) के श्रवण में ही उसके अवकाश का समय बीतता था। इसके अलावे उसने योगवासिष्ठ से खासकर 'वैराग्य प्रकरण' से प्रभावित होकर, सांसारिक मिथ्या सम्बन्धों; यथा-पुत्र, पत्नी, राज्य, वैभव की निन्दा, लक्ष्मी, राजमद, लोभ, मोह, माया इत्यादि की निन्दापरक एक कृति रच डाली थी। यह कृति फारसी भाषा में थी और इसको काव्य की कोटि में रखा जाता था जिसका नाम था 'शिकायत'।

जैनुलआबिदीन का समय १४२० से १४७० ई० है।

(३) इसके बाद मुगल सम्राट् अकबर बादशाह का नाम आता है जिसने योगवासिष्ठ के महत्त्व को स्वीकार कर इसके तीन-तीन फारसी अनुवाद कराए। अकबर द्वारा कराए गए फारसी-अनुवाद के विषय में हमें अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका है कि अकबर के आदेश पर किसने इसका अनुवाद किया था; क्योंकि योगवासिष्ठ के इस प्रथम अनुवाद का अनुवादक अपनी भूमिका में लिखता है— "(मेरे अनुवाद से) इससे पूर्व भी बादशाह ने इस ग्रन्थ का अनुवाद कराया था, किन्तु वह अनुवाद उसे पसन्द नहीं आया और १५६७ ई० में अकबर ने पुनः मुझसे इसका अनुवाद कराया," इस अनुवाद को वसिष्ठजोग के नाम से जाना जाता है।

दूसरा अनुवाद जो कि अकबर के आदेश पर शेख अबुल फैजी ने किया था; योगवासिष्ठ के इस फारसी-अनुवाद को शारिक-अल'मरीफत के नाम से जाना गया। अकबर द्वारा कराए गए इस योगवासिष्ठ के अनुवाद के पीछे उसका निहित स्वार्थ था— भारतीय वेदान्तदर्शन, सूफीमत एवं इस्लाम धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करना एवं इसकी एकीकृत समानता को प्रकाश में लाना।

योगवासिष्ठ के तीसरे फारसी-अनुवाद के रूप में जो ग्रन्थ प्राप्त होता है उसका नाम है 'योगवासिष्ठ' किन्तु अकबर के आदेश पर किसने यह अनुवाद किया तथा कब किया, इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

(४) अकबर के बाद उसके पुत्र जहाँगीर के समय में भी योगवासिष्ठ के तीन-तीन फारसी अनुवादों की सूचना प्राप्त होती है। इनमें प्रथम अनुवाद-निजाम अलदीन पानीपती के द्वारा दो हिन्दू पण्डितों की सहायता से सम्राट् जहाँगीर के आदेश पर किया गया। ध्यातव्य है कि यह योगवासिष्ठ का नहीं प्रत्युत् लघुयोगवासिष्ठ का फारसी-अनुवाद है, और लघुयोगवासिष्ठ 'योगवासिष्ठ' के आधार पर कश्मीरी ब्राह्मण अभिनन्द (नवीं शताब्दी) द्वारा रचित था। निजाम अलदीन पानीपती के उपर्युक्त लघुयोगवासिष्ठ के फारसी-अनुवाद पर ईरानी दार्शनिक— मीर'अबुल कासिम फिन्द्रस्की के द्वारा एक संक्षिप्तिका (Marginal notes) लिखी गई। इसी प्रकार फिन्द्रस्की ने इस अनुवाद में आठ कठिन शब्दों का अर्थ भी एकत्रित किया था। योगवासिष्ठ का तीसरा फारसी-अनुवाद जहाँगीर के आदेश पर सूफी शरीफ कुतुबजहानी ने 'तोहफा-य-मजलिस' या 'अवतार-दार-हाल-य-असरार' के नाम से किया। यह अनुवाद १० प्रकरणों या १० तवारों में विभक्त था जबकि योगवासिष्ठ ६ प्रकरणों में ही समाप्त हो जाता है।

(५) जहाँगीर के बाद उसका पौत्र एवं भारतीय धर्म-दर्शन का महान् अध्येता मुहम्मद दाराशिकोह भी योगवासिष्ठ का प्रेमी सिद्ध हुआ। दाराशिकोह के आदेश पर भी योगवासिष्ठ के तीन अनुवादों की सूचना हमें प्राप्त होती है। इनमें दो फारसी-अनुवाद हैं तथा एक ब्रज एवं अवधी-मिश्रित अर्थात् पुरानी हिन्दी में पद्यानुवाद है। प्रथम फारसी-अनुवाद के अनुवादक हैं शेख सूफी

कुतुबजहानी और इस अनुवाद का नाम रखा गया 'कुशफुल कुनुज'। लघुयोगवासिष्ठ का फारसी-अनुवाद १६५६ ई० में दाराशिकोह के निर्देश पर 'योगवासिष्ठ' के नाम से किया गया। इसके अनुवादक सम्भवतः बालीराम हैं जो कि दारा के मन्त्री थे।

कवीन्द्राचार्य सरस्वती, बनारस के प्रतिष्ठित संस्कृत विद्वान्, संगीत के आचार्य तथा हिन्दी के विख्यात कवि रहे हैं जिन्हें प्रथमतः मुगलसम्राट् शाहजहाँ, तत्पश्चात् दारा का संरक्षण प्राप्त था। दारा के निर्देश पर इन्होंने योगवासिष्ठ का हिन्दी में 'ज्ञानसार' के या 'योगवासिष्ठसार' के नाम से पद्यनुवाद किया। ज्ञानसार, अब भी प्राप्य है और इसकी काव्यात्मकता एवं भाषा-शैली के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने कवीन्द्राचार्य सरस्वती को पद्माकर की श्रेणी का कवि स्वीकार किया है। हाल के विद्वानों की गवेषणाओं एवं उनके शोधकार्यों के परिणामों ने एक ऐसी पाण्डुलिपि को ढूँढ़ निकाला है जिसका नाम है— 'रफी-उल-खिलाफ'। यह कवीन्द्राचार्य के योगवासिष्ठ के हिन्दी-अनुवाद ज्ञानसार का फारसी-अनुवाद है। अनुवादक हैं सीताराम कायस्थ सक्सेना लखनवी और इनका समय है १७८४ ई०।

ज्ञानसार का प्रारम्भिक पद्य या मंगलाचरण इस प्रकार है—

है अनन्त व्यापक सकल चिनमय सीरो धाम।
अनुभव तैं ठहरात है ताको कल्ल प्रनाम॥

ज्ञानसार दस प्रकरणों या विभागों में समाप्त हो जाता है।

अब हम पाठकों की सुविधा के लिये योगवासिष्ठ के हिन्दी-अनुवाद ज्ञानसार के कुछ पद्यों तथा सीताराम कायस्थ द्वारा उल्लिखित विभिन्न सूफी मतावलम्बियों, सूफी-दार्शनिकों द्वारा लिखित फारसी के पद्यों को उद्धृत कर रहे हैं। ये फारसी

पद्य (मसनबी) भी हिन्दी के दोहों में प्रतिपादित योगवासिष्ठ के मतों का अनुगमन करते हैं—

जौ लौं नहिं जगदीस की होत कृपा कौलेस।
तौ लौं सतगुर ना मिलै ना विद्या उपदेस॥

फारसी—

“इलाही अबूजहल अज काबा भी आयद व इब्राहीम अज बुखाना।
कार-य-अज इनायत अस्त बाक्री बहाना”॥

— अब्दुल्लाह अंसारी

दुखमय जग अज को ज्ञानी को सुख रूप।
भुवन अन्धेरो आन्धरन्ह औरनहें जोत अनूप॥

फारसी—

“मन कि दर सूरते खूबाँ हमा ऊ मी बीनम।
तू मपिन्दार कि मन रुय नेको मी बीनम॥
हर कुजा भी नगरद दीदा दरु मी बगरद।
हर चे मीबीनम अजू जुमला बदू मी बीनम॥
'मगरबी' आँ किः तू अश मी तलबी दर खिलवत।
मन अयाँ बर सरे हर कूचा व काबा मी बीनम॥”

— मगरिबी

फारसी—

“मन काना फी हाजेही अमी फहोवा फिल उखरते आमा”।

—हादिय

अचरण माया चतुर है मोहत है संसार।
लखै न आपा आपहें अंग-अंग व्यापनहार॥

फारसी—

“इश्क अंजमने अस्त दर नज़र नीस्त।
रंगेअस्त बहार जलवा गर नीस्त॥
इसरारे जहाँ हस्त दिगर नीस्त।
मन मी गोयम कसे दिगर नीस्त॥
ई तुफा कि अज़ खुदम खबर नीस्त॥”

— बेदिल

बिन आसा बिन चाह को बिन इच्छा बिन काम।
परमानन्द सरूप हौं चिनमय हौं ए राम॥

फारसी—

“मन खुदायम मन खुदायम मन खुदा।
फरिगम अज़ किब्र व कीना व ज़ हवा॥”

— फरीदुद्दीन अत्तर

ज्ञान ज्ञेय तें नहि जुदो ज्ञान ज्ञेय इक पोत।
या तें और कछु नहीं ताते भेद न होत।।
फरसी—

“दर दीदा अयाँ तू बूदई मन गाफिल।
दर सीना निहाँ तू बूदई मन गाफिल।।
अल जुमले जहां निशाने तू मी जुस्तम।
खुद जुमलए जहां तू बूदई मन गाफिल।।”

— जामी

(६) दारा के बाद १७६४ ई० में ‘तर्जुमा-ए-योगवासिष्ठ’ के नाम से निजाम अलदीन के फारसी-अनुवाद का अन्य कथाओं के साथ संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किया गया। संकलनकर्ता का नाम प्राप्त नहीं होता।

आधुनिक काल में भी अनेकानेक मुसलिम विद्वानों के द्वारा योगवासिष्ठ का अध्ययन एवं उसका उर्दू-अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। देश के विभिन्न नगरों, विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, उर्दू-संस्थाओं में आज भी कई ऐसे मुसलिम विचारक तथा विद्वान् हैं जो संस्कृत के ग्रन्थरत्नों के साथ-साथ-योगवासिष्ठ के जीवनदर्शन-विषयक रहस्यों एवं उसकी शिक्षाओं से आनन्दित हो रहे हैं। बड़े-बड़े पुस्तकालयों में यदि ढूँढा जाय तो योगवासिष्ठ पर स्वतन्त्र काम करनेवाले कितने ही ऐसे मुसलिम विद्वानों की सूची प्रस्तुत की जा सकती है।

योगवासिष्ठ में प्रतिपादित मानवीय जीवन के जिन रहस्यों ने आर्य-धर्मतर लोगों तक का ध्यान अपनी ओर खींचकर, उन्हें योगवासिष्ठ का अनुयायी बना दिया; उन रहस्यों को हम यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

लक्ष्मीनिन्दा :

यह सत्य है कि सम्पूर्ण विश्व का संचालन आज अर्थ पर आधारित है किन्तु आज के इस औद्योगिक एवं पूँजीवादी व्यवस्था के युग में यूरोपीय सभ्यता की ओर अन्धी-दौड़ में शामिल होते जा

रहे हम भारतीयों के लिए यह विचार कर लेना आवश्यक हो गया है लक्ष्मी हमारे लिए साधन है या साध्य? लक्ष्मी कुत्सित उपायों द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, प्राप्त हुई भी यह क्षणमात्र में अपनी नजरें फेर लेती है और हमारी चित्तवृत्तियों को हर लेती है।

(योगवासिष्ठः २.२०)

जीवन-क्षणिकत्वः

श्रेष्ठवर्ष-सम्पत्ति एवं विभूतियों के भोग के लिए जो हमने जीवन प्राप्त किया है उसकी भी दशा देखिए— यह किसी पुष्प या पल्लव के अग्रभाग पर स्थित जल की उस बूँद के समान है जिसका पतन “अब हुआ कि तब हुआ” के संशय से घिरा रहता है (श्लोक-२१)। और ऐसी पानी की बूँद की ओर हम मोती के भ्रम में कर्तव्याकर्तव्य को तिलांजलि दे, मूर्खों की तरह लपके जाते हैं। वायु को रोका जा सकता है, आकाश को विखण्डित किया जा सकता है, तरंगों को एक सूत्र में बाँधा जा सकता है किन्तु इस क्षणिक जीवन पर विश्वास नहीं किया जा सकता है (श्लोक-२४)।

चित्तनिग्रह की आवश्यकताः

यह चित्तनिग्रह अत्यन्त कठिन कार्य है, यह अग्नि से भी अधिक उष्ण, पर्वतारोहण से भी अधिक कठिन तथा वज्र से भी अधिक दृढ़ होता है, समुद्र को पीया जा सकता है, अग्नि को खाया जा सकता है, किन्तु इस चित्त का निग्रह करना बड़ा कठिन कार्य है। योगवासिष्ठ के अनुसार— “तस्मिन्क्षणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः”। चित्त-निग्रह हो जाने पर ही सर्वदुःखों की निवृत्ति हो सकती है (श्लोक-४८-५०)।

तृष्णाः

अत्यन्त धैर्यवान् धीरचेष्ट पुरुषों को भी यह उरती है, विचारवान् पुरुषों को भी यह अन्धा बना

देती है, शान्तचित्त मनुष्यों को भी कष्ट पहुँचाती है (श्लोक-५६)। वास्तव में संसार के समस्त सुख-दुःखों तथा आधि-व्याधियों का मूल कारण यह तृष्णा ही है। तृष्णा के विषय में वैराग्यशतककार का मत और भी भिन्न है— “तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा” अर्थात् तृष्णा तो कभी समाप्त नहीं हुई; हाँ। हम जरूर समाप्त हो गए। मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता है, तृष्णा त्यों-त्यों जवान होती जाती है।
जीवन की सार्थकता:

वृक्ष तथा पशु-पक्षी आदि सभी जीते हैं किन्तु दुर्वासना-परवश मन के मनन में अर्थात् वस्तुतत्त्व के निरूपण-अन्वेषण में जिनका मन मनन करता है, वस्तुतः वे ही जीवित कहलाते हैं (श्लोक २८)। अविवेकी लोगों के लिए शास्त्र, रागी पुरुषों के लिए ज्ञान, अशान्त लोगों के लिए मन, अनात्मविद् पुरुषों के लिए शरीर भार ही है (श्लोक- ३०)।
जीवन की निरर्थकता:

प्रकृत्या मानव-जीवन जिन अवस्थाओं— शैशव, बाल्यकाल, यौवन तथा वृद्धावस्था से होकर अन्त में समाप्त हो जाता है; इनकी निस्सारता भी योगवासिष्ठ में मानवमात्र के अनुभव के आधार पर प्रतिपादित की गई है। इन अवस्थाओं की निस्सारता के आधिकारिक पात्र किसी दलगत या जातीय प्रणी नहीं प्रत्युत् प्राणिमात्र है। हिन्दू हो या मुसलमान, स्निग्ध हो या ईर्साई, ऊँच हो या नीच, धनी हो या

निर्धन; कोई भी अपने ही इन अनुभवों को झुठला नहीं सकता। और आश्चर्य है कि आज भी हम जिस जीवन की निस्सारता को समझ नहीं सकते, समझकर भी जिनके प्रति हमारी आस्था मोहमयी है, उनके रहस्यों को आज से हजारों वर्ष पूर्व भारतीय, ऋषियों ने प्रतिपादित कर दिया था, इनकी तरफ से अपना मोहभंग कर प्राणिमात्र के कल्याण की ओर स्वयं उन्मुख हो हमें भी सचेष्ट कर दिया था।

क्या जीवन की इन अवस्थाओं की निस्सारता को कोई अन्य धर्म या सम्प्रदाय, सिद्धान्त या मत, आचार्य, मुल्ला या पादरी, गलत ठहरा सकता है? यही कारण है कि मुसलिम-शासक या मुसलिम विचारकों, विद्वानों को योगवासिष्ठ ने अपनी ओर उन्मुख किया। और ये शासक तथा विद्वान् योगवासिष्ठ में प्रतिपादित मानव-जीवन के दार्शनिक, गूढ़ एवं तात्त्विक-स्वरूप को अपनी भाषा में अनूदित/प्रतिपादित करना शुरू कर दिया था। आइए, योगवासिष्ठ की इन शिक्षाओं पर हम और आप (मुसलिम जन) मिलकर अमल करें, भारत के भाग्य को सँवारें।

द्वारा- श्री काशीनाथ मिश्र
डी ३/८४ धर्मकूप, मरघाटी,
वाराणसी - २२०००९



पंडित पंडित सों सुख मंडित सायर सायर के मन मानै।
संतहि संत भनंत भलौ गुनवंतनि को गुनवंत बखानै।।
जा पहुँ जा सह हेतु नहीं कहिये सु कहा तिहि की गति जानै।
सूर को सूर सती को सती अरु 'दास' जती को जती पहचानै।।
(भिखारीदास)

बुद्धचरित और यशोधरा

□ डी० आर० ब्रह्मचारी

प्रवृत्ति प्राणियों का नैसर्गिक धर्म तो है किन्तु निवृत्ति महाफलदायक होती है—प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला। फिर प्रश्न उठता है कि निवृत्ति की ओर संचरण का मार्ग कैसा हो? तिस्कार-बहिष्कारवाला या परिष्कारवाला? गौतम बुद्ध ने अनुज नन्द को निवृत्तिमुखी बनाना तो चाहा किन्तु परिणाम हुआ- व्याध-भय से निकला मृग पुनः उसके जाल में फँसने को आतुर होता है—प्रविवक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतवरेण वंचितः (सौंदरनन्द)। बहिष्कृति-निष्कृति का फल यही होता है।

दर्शन-मोक्ष को प्रतिपाद्य बनाने के लिए अश्वघोष को उसे हृद्य बनाना अनिवार्य हो जाता है—

यन्मोक्षात् कृतमन्यत्र हि मया तत्
काव्यधर्मात् कृतम् पातुं तिक्तमिवौषधं। मधुयुतं
हृद्यं कथं स्वादिति।

(सौंदरनन्दः १८.६३)

दर्शन की अपनी सीमाएँ—मर्यादाएँ होती हैं, कविता की अपनी। दर्शन ज्ञान-दशा को जाता है, आत्म-मुक्ति को प्राप्त होता है, उपनिषद् इसका उदाहरण है। इसके विपरीत कविता रस-दशा को जाती है, उसमें आत्मविस्तार होता है। एक दार्शनिक कवि को सावधान रहना पड़ता है कि आत्ममुक्ति के फेरे में कहीं आत्म-विस्मृति का आखेट न हो जाय, अपने प्रतिद्वन्दी को विजित करता-करता कहीं स्वयं विजित न हो जाय। इसके लिए चौकन्ना रहना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। किन्तु कविता के साथ ऐसी बात नहीं होती। कविता की पराजय भी जय में संक्रमित हो सकती है।

अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित' और गुप्तजी की 'यशोधरा' इसी के दृष्टान्त हैं। दोनों में यही अन्तर है।

'बुद्धचरित' जहाँ प्रवृत्ति की निवृत्ति-गाथा कहने को पर्युत्सुक है वहीं यशोधरा निवृत्ति का प्रवृत्ति-गान गाने को उद्यत।

तपस्वी से बुद्ध कहते हैं, मेरी अभिलाषा मोक्ष की है—ममाभिलाषास्त्वपुनर्भवाय। यशोधरा कहती है—संसार हेतु शत बार सहर्ष मरें हम।

आधा राज्य देकर भी सिद्धार्थ को किसी प्रकार आसक्त करने के प्रयास में बिम्बिसार के इस कथन—यजस्व यज्ञं कुलधर्मं येष को वे यह कहकर टाल देते हैं कि राज्य-संचालन कर दूसरों को दुःख देना ठीक नहीं—नहि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते।

महानिष्क्रमित सिद्धार्थ को वन में ढूँढ़कर मन्त्री-पुरोहित उनको पितृवचन सुनाते हैं—मुझ मृत्यु की सम्भावनावाले की उपेक्षा मत करो। क्योंकि—सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः। धर्म केवल वन में ही नहीं होता—न चैष धर्मो वन एव सिद्धः। यती के लिए नगर में भी सिद्धि सम्भव है—पुरेऽपि सिद्धिर्नियता यतीनाम्। वनवास तथा भिक्षुवेश कायर के चिह्न हैं—वनं च लिंगं च हि भीरुचिह्नम्। गृहस्थी में मोक्ष थोड़े ही नहीं है—प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः। अतएव शोक-सागर में डूबे परिजनों को तुम नाव बनकर उबारो।

मन्त्री-पुरोहित कहते हैं—तुम्हारा पालन-पोषण करनेवाली देवी बछड़ा मरे गाय की की तरह निरन्तर करुण क्रन्दन करती रहती है तथा हंस से विरहित हंसिनी की तरह तुम्हारी भार्या अनाथिनी हो रही है।

वे कहते हैं कि दुःख नहीं सहने योग्य एक मात्र छोटे पुत्र राहुल-रूपी चन्द्र को पितृशोक के राहुग्रहण से बचाओ।

रामवियुक्त दशरथ की तरह पुत्र-वियोग में दुःखी शुद्धोदन धैर्य खोकर विलाप करने लगते हैं— या तो मुझे पुत्र के पास पहुँचाओ अथवा उसे ही ले आओ अन्यथा, बिना औषध के रोगग्रस्त प्राणी की तरह मैं जीवित नहीं रहूँगा। मुझे महाराज दशरथ से ईर्ष्या हो रही है जो पुत्र-वियोग में दिवंगत हो गए। मुझे वह स्थान बताओ जहाँ मेरे तिलांजलि देनेवाले को पहुँचा आए हो।

कुमार को वन में पहुँचाकर खाली लौटा कन्धक अश्रुपूर्ण नेत्रों से तपोवन की ओर अभिमुख होकर बारम्बार जोर से हिनहिना उठता है। भूखा-प्यासा रहकर भी न तो अन्न ग्रहण करता है न जल—

निवृत्य चैवाभिमुखस्तपोवनं

भृशं निदेषे करुणं मुहुर्मुहुः।

क्षुधान्वितोऽप्यध्वनि शष्पमम्बु

यथा पुरा नाभिनन्दनानदे॥

भवन के भीतर के पक्षी एवं घुड़साल के अन्य घोड़े इस आशा से प्रतिध्वनि करने लगते हैं कि राजपुत्र लौट आए हैं।

स्तस्तशरीर कन्धक और छन्दक को देखकर मार्ग के नागरिकों ने जैसे ही आँसू बहाए जैसे राम-रहित रथ के लौटने पर वहाँ के लोगों ने बहाए थे।

क्रोधारक्त आँखें, तीव्र साँस से काँपते पयोधर तथा प्रगाढ़ शोक से झड़ते अश्रुयुक्त यशोधरा विषादजनित कटु भाषण करने लगती है—

ततस्तु रोषप्रविरक्त-लोचना

विषाद-संबन्धि-कषायगद्गदम्।

उवाच निःश्वासचलत्पयोधरा

विगादशोकाश्रु-धरा यशोधरा॥

हे छन्दक! रात्रि में सोती हुई मुझ अवश को छोड़कर मेरा वह मनोरथ कहाँ गया? गए एक साथ तीन और लौटे दो? मेरा मन काँप रहा है। अनार्य, अमित्रोचित अस्निग्ध क्रूरकर्म करके क्यों रोते हो? आँसू रोको, तुष्टमानस हो जाओ। तुम्हारे कर्म और अश्रु में मेल नहीं। तुम्हारे समान प्रिय,

वशी, हितू, सज्जन तथा सहायक के साथ आर्यपुत्र चले गए। आनन्द करो। तुम्हारा फल सार्थक हुआ— वरं मनुष्यं विचक्षणो रिपुर्न मित्रमप्राप्तयोगपेशलम्। मूर्ख दोस्त से पंडित दुश्मन भला!

घोड़े ने रत्नचोर की भाँति रात में सोए रहने पर मेरा सर्वस्व हर लिया। अभी हिन हिना रहा है, तब गूँगा हो गया था। लोगों को जगाने के लिए तब हिनहिनाता, खुरों से धरती पर आवाज करता अथवा फुरफुराता तो मुझे दुःख न होता।

वियुक्त चक्रवाकी के सदृश यशोधरा विलाप करने लगती है।

मुझ अनाथा सहधर्मिणी के बिना उन्हें कहाँ से धर्म होगा? उन्होंने सपत्नीक वानप्रस्थ पूर्ववर्ती राजाओं के विषय में नहीं सुना होगा। तभी तो मेरे बिना धर्म चाहते हैं। उनका मुझमें धर्मद्वेष हो गया है। निश्चय ही मुझ कोपना को अत्यन्त ईर्ष्यालु, कलहप्रिय समझकर सुखाभाव के भय से स्वर्ग में अप्सराओं को पाना चाहते हैं। वहाँ की स्त्रियाँ कितना उत्तम रूप धारण करती हैं कि मेरी सेवा और राजलक्ष्मी को छोड़कर वह वन में तपस्या करते हैं, मुझे तो इसकी चिन्ता है। स्वर्गसुख की मेरी स्पृहा नहीं, क्योंकि जितेन्द्रिय के लिए वह दुर्लभ नहीं, मेरी इच्छा तो यही है कि वह मुझे यहाँ अथवा परलोक में न भूलें—

स तु प्रियो मामिह वा परत्र वा

कथं न जह्यादिति में मनोरथः।

स्वामी मुझको मरने का भी दे न गए अधिकार

छोड़ गए मुझपर अपने उस राहुल का सब भार।

अश्वघोष को राहुल-कल्पना के लिए यथेष्ट अवकाश था, पर विषयान्तर के भय से उसका उन्होंने उपयोग नहीं किया। गुप्तजी ने इसका यथेष्टित विनियोजन किया है।

स्वामी के विशाल नेत्र तथा शुचि-स्मित मुख-दर्शन का मेरा भाग्य नहीं तो यह राहुल भी पिता की गोद में खेलने योग्य नहीं?

अम्ब तात कब आरुंगे?

धीरज धर बेटा, अवश्य हम उन्हें एक दिन पाएंगे।
मुझे भूल ही भले जायँ वे, तुझे क्यों न अपनाएंगे।
कोई पिता न लाया होगा वह पदार्थ वे लाएंगे।

उस मनस्वी का रूप तो सुकुमार है किन्तु
मन कटोर। शत्रु को भी हर्षित कर देनेवाले तुतलाते
हुए ऐसे बाल पुत्र को वे छोड़ रहे हैं।

ऐसे अप्रोच अश्वघोष को ब्राह्मण से बौद्ध
होने की सम्भावना को पुष्ट करें तो कोई आश्चर्य
नहीं। कीथ कहते ही हैं— हम उनकी शैली को
विषय-परायणता और कामोत्तेजना से रहित भी
नहीं कह सकते।

यशोधरा से भिक्षा-याचना कर बुद्ध जहाँ
पराजित नेता दिखते हैं वहीं दान देकर उन्हें
स्वीकार करने के क्रम में यशोधरा जयीविजिता।

जहाँ त्याग की भित्ति पर अवलम्बित होते
हुए भी बुद्ध के त्याग में पलायन है वहाँ यशोधरा
के त्याग में सृजन।

बुद्ध जरा, जन्म, व्याधि, मरण से भागते
हैं। यशोधरा इनसे तनिक भी घबराती नहीं—
यदि मुझमें अपना नियम और शाम दम है
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है
वह जरा एक विश्रान्ति जहाँ संयम है
नव जीवन दाता मरण कहाँ निर्मम है।

वह मुक्ति कतई नहीं चाहनेवाली— कह
मुक्ति! भला किस लिए तुझे मैं पाऊँ? वह
संसार के प्रति पूर्णतः आस्थावान् है सकारात्मक
भाव रखने वाली है— भव भावे मुझको और
उसे मैं भाऊँ। वह सिद्धि मार्ग की बाधा कहाँ—
स्वयं सुसन्नित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पन में,
हमीं भेज देती हैं रण में

क्षात्र धर्म के नाते।

स्पष्ट है, बहिष्कृति-निष्कृति के स्थान पर
यशोधरा परिष्कृति के मार्ग को अपनाती है जो
आज का काम्य है।

पुत्र-शोक में मरण को वरण करनेवाले
दशरथ से ईर्ष्या करनेवाले 'बुद्धचरित' के शुद्धोदन
को अभिभूत होने के पश्चात् 'यशोधरा' में यह
कहने को विवश होना ही पड़ता है कि 'गोपा
बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।'

अरस्तू ने कहा था— The poetry is
Imitation of the nature, पर, Imitation का अर्थ
Re-creation नहीं होता। अनुकरण अनु-करण होता
है पुनःकरण नहीं।

नक्कूथान,

मोहनपुर, समस्तीपुरः ८४८१०१



पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यार्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः॥

बिना अनुरोध के सूर्य कमल को विकसित करता है, चन्द्रमा कुमुद को प्रफुल्लित करता
है तथा बादल वर्षा करता है। सच है, सन्त दूसरों की भलाई में स्वतः प्रवृत्त रहते हैं।

बालविवाहः न धर्मसम्मत है, न विधिसम्मत

□ कृष्णानन्द

हिन्दू-संस्कृति में विवाह एक धार्मिक संस्कार है। समय के प्रभाव से जिस भाँति 'धर्म' शब्द का अर्थ परिवर्तित होता रहा है, उसी भाँति विवाह-आयु में भी परिवर्तन होता रहा है। परन्तु समय की आवश्यकता के अनुरूप जो अनिवार्य परिवर्तन किया जाता है उसके समय की अनुकूलता हो जाने पर भी पूर्व-परिवर्तित रूप में स्थित रहने पर कुप्रथा का जन्म होता है।

दूसरी सदी ईस्वी पूर्व से पूर्वमध्य युग तक विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा भारतीय नारी के कौमार्य और अस्तित्व की रक्षा तथा हिन्दू-समाज में संकरता को अवरुद्ध करने के लिए बालविवाह का प्रचलन हुआ। बालिकाओं की माँग का सिन्दूर विदेशियों के कामाक्रमण से बचाने में सफल तो हुआ, परन्तु अल्पायु में गर्भधारण से उनकी शारीरिक और मानसिक स्थिति चिन्ताजनक और दयनीय हो उठी। समय के प्रवाह से स्थिति में परिवर्तन हुआ। जब नारी के प्रति कामदृष्टि से ग्रसित सल्तनत और मुगलिया शासन का अन्त हुआ और पाश्चात्य सभ्यता के नारी के प्रति आदर और उदार दृष्टिकोण रखनेवाले ब्रिटिश शासन का पैर भारत में जम चुका तब समाज-सुधारकों की पहल पर बालविवाह अवरोध अधिनियम १९२९ में पारित किया गया। समय-समय पर इसमें संशोधन भी किये गए जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संशोधन १९७८ में हुआ।

परन्तु बालविवाह, जो मध्ययुग की आवश्यकता थी, आज उसका कोई औचित्य नहीं रहने पर भी धार्मिक अन्धविश्वास और अधिका के प्रभाव में जनप रहा है। यह एक सामाजिक और

धार्मिक कुरीति है, कुप्रथा है। बालविवाह-निरोधक अधिनियम के बावजूद छोटी बालिकाओं का विवाह अब भी हो रहा है। २१वीं सदी में चले जाने पर भी अभी तक मध्ययुगीन कुरीति पर अंकुश नहीं लग पाया है। भारत में प्रतिवर्ष अनगिनत लोगों का अल्पावस्था में ही विवाह सम्पन्न कराया जाता है।

राजस्थान में बालविवाह एक कोढ़ की भाँति सदा से उसकी छवि को विकृत कर ही रहा है।

छत्तीसगढ़ में २००२ की रामनवमी के दिन बैगा और मदार आदिवासी समूहों में हजारों बच्चे-बच्चियों, जिनमें साल भर की बच्ची भी थी, का विवाह सम्पन्न हुआ। उस वर्ष अक्षय तृतीया (१५ मई) को भी छत्तीसगढ़ ही नहीं मध्यप्रदेश और राजस्थान के पिछड़े इलाकों में भी ऐसे हजारों बालविवाह कराए गए। अक्षय तृतीया इसके लिए प्रसिद्ध है, क्योंकि इस दिन विवाह कराने के लिए कोई मुहूर्त देखने की आवश्यकता नहीं होती है। अतः हजारों वर-वधू को गोदी में बैठाकर इस दिन विवाह कराए जाते हैं। कुछ समय पहले ही दूरदर्शन पर बालविवाह की कुरीतियों से ग्रसित उत्तरप्रदेश के एक गाँव को दिखाया था जहाँ की बालिकाओं का विवाह उस समय कर दी जाती है जब वे विवाह का अर्थ भी नहीं समझती हैं।

बिहार भी बालविवाह के रोग से अछूता नहीं है। अनुमानतः प्रत्येक वर्ष यहाँ लगभग दो हजार बालविवाह कराए जाते हैं। २००२ के सितम्बर से दिसम्बर माह के बीच बिहार के कई जिलों में नौ से ग्यारह वर्ष की बालिकाओं का विवाह ५०-५५ वर्ष के बूढ़ों से किये जाने के दस

मामले जिला कल्याण पदाधिकारियों द्वारा उजागर किया गया। असूचित बालविवाह के मामले का लेखा-जोखा नहीं है। इन दस मामलों (जमुई के चार, पटनासिटी के तीन, मुंगेर के दो, गया के एक) के अतिरिक्त समस्तीपुर जिले के बिरौल थाना में दर्ज प्राथमिकी संख्या ५६-२००२ के अनुसार गत वर्ष १३-१४ मई की रात्रि में १४ वर्षीया नाबालिग लड़की पूनम का विवाह अनुमण्डल पदाधिकारी के सरकारी अवास पर कराकर कानून को सरकारी पदाधिकारी द्वारा ही ठेंगा दिखाया जाना चौकानेवाला है।

लगभग तीन दशक पहले आठ वर्ष की अल्प आयु में ब्याही गई शकुन्तला केवल दो वर्ष बाद ही दस वर्ष की आयु में पति की मृत्यु हो जाने पर उस समय विधवा हो गई जब वह विधवा होने का न अर्थ समझती थी न इसके दुष्परिणाम के अवगत। उसे केवल इतना ही स्मरण रहा कि उसकी माँ ने उसकी दो चोटियों के बीच माँग में शोभित सिन्दूर धो-पोछ डाला था। जब वह युवती हुई और विवाह करने की इच्छा जागी तब घरवालों से पुनर्विवाह करने की अनुमति नहीं मिली और विवाहित जीवन जीने की उसकी लालसा धरी-की-धरी रह गई।

आश्चर्य यह है कि बालविवाह माता-पिता की सहभागिता से ही होता है। कम दहेज देने के चक्कर में अभिभावक अपनी बच्चियों का विवाह कम आयु में ही कर देना पसन्द करते हैं। अधिकांश अभिभावकों को, विशेषकर ग्रामीणों को कानून की जानकारी नहीं होती, जिससे बालविवाह में उनकी सहभागिता रहती है। अशिक्षा, अन्धविश्वास और अज्ञानता के कारण ही कानूनी निषेध के बावजूद बालविवाह धड़ल्ले से समाज में प्रचलित है।

इस सामाजिक कुरीति को रोकने के लिए कानून का भय दिखाने के साथ-साथ समाज में

जागरूकता-अभियान चलाने की आवश्यकता है। विधवाओं की संख्या-वृद्धि पर रोक लगाने के लिए बालविवाह पर अंकुश लगाना अनिवार्य है। 'राष्ट्रीय महिला आयोग' ने बालविवाह अवरोध अधिनियम १९२९ में संशोधन लाने की अनुशंसा करते हुए प्रस्तावित किया है कि बालविवाह में लिप्त व्यक्ति की सजा को अधिक कठोर बनाया जाए, कतिपय परिस्थितियों में ऐसे विवाह को रद्द किया जाए, इस अधिनियम के अन्तर्गत अपराध को संज्ञेय बनाया जाए, बालविवाह अवरोध अधिकारी की नियुक्ति के लिए नई धारा जोड़ी जाए, और अधिनियम के अन्तर्गत राज्य सरकारों को नियम बनाने के अधिकार देने का प्रावधान जोड़ा जाए, आदि।

रामनवमी और अक्षयतृतीया के दिन कई स्थानों पर सामूहिक रूप से बालविवाह का आयोजन कर इस प्रथा को धार्मिक मान्यता देने की चेष्टा की जाती है। पर बालविवाह क्या धर्म सम्मत है? इस पर विवेचन करें।

धर्म का अर्थ करणीय कर्म होता है। मनुष्य के लिए जो कर्तव्य तथा क्रियाएँ अभीष्ट हैं उनका उचित निर्वहण ही वस्तुतः धर्म है। अतः धर्म मनुष्य के कर्तव्यों तथा बन्धनों का द्योतक और आचार-विधि का परिचायक है। मनु ने "आचारः परमो धर्मः" (मनुस्मृतिः १.१०९) कहकर वेदों में उल्लेखित आचार-विचार को ही परम धर्म माना है। मनु के अनुसार सभी धर्मों का मूलाधार वेद हैं— "वेदोऽखिलानो धर्ममूलम्" (मनुस्मृतिः २.६)। गौतमधर्मसूत्र (१.१.२) के अनुसार भी वेद धर्म का मूल है— "वेदो धर्ममूलम्"। विवाह संस्कार भी वैदिक मन्त्रोच्चार से ही सम्पन्न कराया जाता है। अतः विवाह-जैसे पवित्र करणीय कर्म में वैदिक कथन से ही विवाह-आयु धर्म-सम्मत मान्य होना चाहिए। वैदिक-युग में बालविवाह का

चलन नहीं था, इसलिए अल्पायु में विवाह धर्म-सम्मत नहीं कहा जा सकता।

वेदों में लिखित 'दम्पति' शब्द का अर्थ है कि पति एवं पत्नी मिलकर गृहस्थी का संचालन करते थे— "या दम्पति समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्याशिरा।। (ऋग्वेदः ८.३१.५)। वैदिक-युग में कन्याएँ अपनी इच्छानुसार भी पुरुष को पति रूप में वरण करती थीं—

"भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रम् वनुते जने चित्।।"

(ऋग्वेदः १०.२७.१२)

ये ऋचाएँ स्पष्ट करती हैं कि कन्याएँ प्रौढ़ होने पर ही विवाह करती थीं। विवाह मन्त्रों (ऋग्वेदः १०.८५.२६-२७, ४६) से कन्या को विवाहोपरान्त गृहस्वामिनी मनने, गृहस्थी का संचालन करने और सबको अपने नियन्त्रण, अनुशासन में रखने के लिए कहा जाता है— "सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव। ननान्दरि भव साम्राज्ञी सम्राज्ञीअधि देवृषु।।"

यह तभी सम्भव है जब कन्या गृहस्थी संचालन और अनुशासन करने योग्य वयस्क आयु की हो। बालक-बालिका जो विवाह का अर्थ भी नहीं समझते हैं, उन्हें गृहस्थी संचालन की योग्यता कहाँ से आ सकती है?

रामायण-महाभारत युग में भी कन्याएँ इच्छित उत्तम वर से विवाह करने के लिए तपस्या करती थीं, जो एक युवती से ही सम्भव था। 'रूप-यौवन-सम्पूर्णम्' तथा ऋतुकाल के पश्चात् विवाहों का महाभारत में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। एक उदाहरण है कि वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा का, जब वह कहती है "मुझे ऋतुकाल प्राप्त हो गया, किन्तु अभी तक मैंने पति का वरण नहीं किया है" ("ऋतुकालश्च सम्प्राप्तो न च मेऽस्ति पतिवृतः" (महाभारतः १.८२.७)।

गृहसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के विवेचन से ज्ञात होता है कि कन्याएँ युवावस्था के बिलकुल पास पहुँच जाने पर या उसके प्रारम्भ होने के उपरान्त ही विवाहित होती थीं। अधिकांश गृहसूत्रकाल में कन्या का विवाह युवावस्था में किया जाता था। गृहसूत्रों में चतुर्थीकर्म का भी उल्लेख है, जिसके अनुसार विवाह के चार दिन पश्चात् ही होनेवाले इस कृत्य से ज्ञात होता है कि युवती कन्या से ही विवाह सम्पन्न होता था। आज भी 'चौठारी' परम्परा का दूसरे रूप में चलन है।

कालान्तर में बालविवाह का प्रचलन वैदिक युग के पश्चात् प्रारम्भ हो गया, जब अनेक अविवाहित स्त्रियाँ भी बौद्ध भिक्षुणी बनने लगीं। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए धर्मसूत्रकारों और स्मृतिकारों ने बालविवाह-जैसे नियम का निर्माण किया। विवाह की आयु कम कर देने से बौद्ध भिक्षुणी बनने की प्रवृत्ति भी बन्द होने लगी।

विदेशी आक्रमण के प्रारम्भ होने पर विदेशियों की कुदृष्टि से हिन्दू नारियों को बचाने के लिए बालविवाह करने की धार्मिक मान्यता बनाई गई। धर्मशास्त्रों में कन्या-दान अथवा गौरी-दान करनेवाले अभिभावक के लिए स्वर्ग-प्राप्ति की बात कहकर इस प्रथा का धार्मिक अनुमोदन किया गया। बालविवाह करना मूल धर्म नहीं था, समय की आवश्यकता के अनुसार करणीय कर्म था। समय की पुकार को धार्मिक जामा पहनाकर लोगों को बालविवाह की ओर प्रवृत्त किया गया। धीरे-धीरे यह रूढ़ि के रूप में जन-जीवन से सम्बद्ध हो गया।

परन्तु आज जब मुसलिम शासन का शिकंजा और उनकी कामुक दृष्टि का भय समाप्त हुए सदी से भी अधिक हो गया है, तब छोटी बालिकाओं की माँग में सिन्दूर भरने का न तो थोपा हुआ धार्मिक औचित्य है, न वैयक्तिक तथा सामाजिक उपयोगिता।

धर्म का तात्पर्य सदाचारण, नीतिमत्ता एवं करणीय कर्म है। जिस भाँति बलिवेदी पर निरीह पशु प्रतिवाद नहीं कर सकते, उसी भाँति विवाह की वेदी पर बालक-बालिकाएँ, जो विवाह का अर्थ भी नहीं समझते, इस अकरणीय और अनुपयोगी कर्म का प्रतिरोध करने की क्षमता नहीं रखते। इस लिए पशु-बलि की तरह बालविवाह भी क्रूरतापूर्ण कर्म है। अतः ऐसा कर्म जो प्रत्यक्ष में हानिकारक, क्रूरतापूर्ण और अवैधानिक है, धर्म के नाम पर मान्य नहीं हो सकता।

मध्ययुगीन यह धार्मिक कृति आज के वैज्ञानिक युग में एक विकृति और भ्रान्तिपूर्ण रूढ़ि है, इसलिये त्याज्य है। अल्पावस्था में गर्भधारण स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, इस लिए बालविवाह न वैयक्तिक धर्म है, न जनसंख्या-वृद्धि का कारण होने से सामाजिक धर्म है और कानूनी निषेध के कारण यह राष्ट्रीय धर्म नहीं हो सकता।

डा० राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है— “किसी भी धर्म और सभ्यता की श्रेष्ठता के लिए उसमें सच्चाई, आत्मीयता और उदारता के गुणों का होना आवश्यक है। अब पुरोहितों द्वारा स्वार्थ-साधन के लिए केवल बाहरी पूजा-पाठ के दिन समाप्त हो

गए। अब लोग धर्म में वास्तविकता के दर्शन करना चाहते हैं। वे जीवन की गहराई में उतरना चाहते हैं, उस पर्दे को हटा देना चाहते हैं जिसने ‘आदि-सत्य’ को छिपा रखा है और उसे जानना चाहते हैं जो जीवन के लिए, सत्य के लिए और न्याय के लिए आवश्यक है।”

अब समय है धर्म के नाम पर बालविवाह-जैसी पुरानी उलटी-सीधी मान्यताओं तथा प्रथाओं को विवेक की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार किया जाए। यह आज का सामयिक कर्तव्य है कि वैदिक मूल धर्म को अपनाएँ और बालविवाह-जैसी निरर्थक-निकम्मी प्रथाओं तथा जिन भ्रान्तियों, विकृतियों एवं मूढ़-मान्यताओं ने सदियों से लोगों को बाँध रखा है, उनसे पिण्ड छुड़ाएँ। यही युगधर्म है।

प्रतिभालोक,

आनन्दपुरी,

पश्चिम बोरिंग कैनाल रोड,

पटना-८००००९



स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहतये

जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरमीदा।

अये निर्लोभानामपि मनसि लोभं जनयतां

गुणानामेवायं तव जननि दोषः परिणतः॥

हे माँ, धरतीवासियों के दुःख को दूर करने के लिए स्वर्ग से उतरती हुई तुमको भगवान् शंकर ने अपने जटाजूट में बाँध लिया। इसमें वास्तविक दोष तुम्हारे गुणों का है, जिस कारण निर्लोभ लोगों के हृदय में भी लोभ उत्पन्न हो जाता है।

लोक-साहित्य के विविध आयाम

□ डा. वीरेन्द्र कुमार वसु

‘लोक’ शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। ऋग्वेद में ‘लोक’ शब्द का प्रयोग ‘भुवन’ के अर्थ में हुआ है। परमेश्वर ने अम्भ, मरीचि, मर एवं जल-जैसे लोकों की रचना की। अम्भ के अन्तर्गत स्वर्ग-लोक से अपर मह जनः, तप, सत्य तथा उनका आधार द्युलोक है। मरीचि के अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि लोक आते हैं। मर से मर्त्य-लोक अथवा पृथ्वीलोक का बोध है तथा पृथ्वी के नीचे पातालदि लोक कहे गए हैं; यथा—

‘स इमाल्लोकान् सृजन् अम्भो मरीचिर्मर
मापोऽदोऽभ्यः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं
मरीचयः पृथ्वी मरो या अधस्तात्आपः।’

सम्राट अशोक के शिलालेखों में ‘लोक’ शब्द का प्रयोग समस्त प्रयोजनों के लिए हुआ है—‘कतव्य भलेहि मे सर्वलोक हितं’ (धर्मलिपि)। इसी प्रकार बौद्ध धर्म के विकास के साथ मानवीय भावना का महत्त्व बढ़ने लगा और ‘लोक’ शब्द मानवता-भाव के उत्कृष्ट अंशों का द्योतक बन गया। प्राकृत एवं अपभ्रंश में प्रयुक्त ‘लोक’ शब्द ‘लोकजता’ (लोकयात्रा) एवं ‘लोकोप्पकाय’ (लोकप्रवाद) लौकिक आचारों के संकेतक हैं। तुलसीदास ने लोक और वेद की भेदात्मक स्थिति को स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया है—‘सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ।।’ (बालकाण्ड)

वेदों में विराट् पुरुष की कल्पना है, जिसमें सामाजिकता का स्वरूप भी वर्णित हुआ है। यह पुरुष सहस्र मुख, नेत्र, पाद से युक्त है। ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय भुजा, वैश्य उदर तथा शूद्र चरण हैं। उस विराट् रूप ईश्वर में ‘लोक’ के ही विराट् स्वरूप भी सन्निविष्ट हैं। लोक-भावना के

उत्कर्ष से वेद और वेदेतर संस्कृति की भेदात्मक स्थिति समाप्त हो गई और दोनों के समन्वय से विशद सांस्कृतिक चेतना प्रोद्भासित हुई। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में इसी व्यापक भाव-राशि की अभिव्यक्ति हुई है—

‘बहु व्याहितो वा अयं बहुतो लोकः।

एतद् अस्य पुनरीहतो अर्थात्।।’

(जै.उ.ब्रा.-३.२८)

सच तो यह है कि इस लौकिक जगत् में ‘लोक’ का अभिप्रेत है जीवन का महासमुद्र। उसमें भूत, वर्तमान तथा भविष्य—सभी संचित रहते हैं। ‘लोक’ से ही राष्ट्र की निर्मिति होती है। ‘लोक’ ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है। ‘लोक’ की उपेक्षा का अर्थ है राष्ट्र-अस्तित्व का लोप। ‘लोक’ की व्यापक भाव-सत्ता को ग्राम या नगर की संकुचित सीमा में बद्ध नहीं किया जा सकता। ‘लोक’ की अभिव्यक्ति का स्वरूप वह सामान्य जन-समूह है जो अपनी नैसर्गिक प्रकृति के सौन्दर्य की दिव्य ज्योति से कल्याणमयी संस्कृति का निर्माण करता है। लोक-संस्कृति का अर्थ है स्वाभाविक मानव-समाज, कृत्रिम नहीं। इसी स्वाभाविक मानव-समाज की भावनाओं, विचारों, रहन-सहन, आचारों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों, क्रिया-कलापों तथा नैष्ठिक अनुष्ठानों की समवेत संस्कृति लोक-जीवन एवं लोक-साहित्य में झलक मारती है।

यह भी सिद्ध है कि विश्व-स्तर पर सम्पूर्ण वाङ्मय के आदि स्रोत यही लोक-जीवन एवं लोक-संस्कृति ही है। कारण यह है कि सम्पूर्ण लेखन-संसार की आत्मा वहीं पुंजीभूत है। इस परिप्रेक्ष्य में हम गहरी दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो

जाता है कि लोक-साहित्य वास्तव में लोक-संस्कृति का ही व्यंजक है। लोकसंस्कृति यदि एक विशाल वट-वृक्ष है तो लोक-साहित्य उसकी अतिविशिष्ट शाखा। लोक-संस्कृति यदि शरीर है तो लोक-साहित्य उसका अवयव। लोकसंस्कृति की व्यापकता सामान्य जन-जीवन के समस्त व्यापारों एवं क्रियाकलापों में दृष्टिगत होती है।

लोक-साहित्य जनता की बोली या भाषा में कभी गीत बनकर, कभी गाथा बनकर तो कभी कथा या नाटक-नौटंकी के रूपों के रूप में प्रकट-मुखर होता है। नट-नटी के नृत्य-गीत खुली सड़कों अथवा नुक्कड़ों पर द्वार-द्वार मण्डलियों द्वारा जो प्रस्तुतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, वस्तुतः वे सब-के-सब लोक-साहित्य के ही साकार-साभिनय प्रतिरूप हैं। सच्चाई तो यह है कि लोक-साहित्य के आयाम वैविध्यपूर्ण हैं। लोक-साहित्य की अभिव्यक्तियों में ही मनुष्य की आदिम मनोवृत्तियाँ, प्रवृत्तियाँ, बोलियाँ, भाषाएँ इत्यादि विविध रूपों में प्रकट होती हैं। इनके रूप अनेक हैं।

लोक-गीत, लोक-गाथा, लोक-नाट्य आदि अपने स्वर, लय और धुनों के साथ-साथ भिन्न-भिन्न भंगिमाओं में मानव-हृदय की भाव-तरंगों को ही झंकृत करते हैं। भिन्न-भिन्न अंचलों, प्रान्तों, गाँवों, टोलों और कस्बों आदि में लोक-गीतों के स्थानीय रूप, रस और गन्ध अनायास संचरित होते रहते हैं। आंचलिकता का संस्पर्श इनमें सहज ही प्राप्य है।

लोक-गाथाओं के सन्दर्भ में तो कई प्रकार के प्रतिपादन भी हुये हैं। 'ग्रिम' का समुदायवाद, 'श्लेगल' का व्यक्तिवाद, 'स्टेंथल' का जातिवाद, 'विशप' का चरणवाद, 'चाइल्ड' का व्यक्तित्व-विहीनवाद एवं 'उपाध्याय' का समन्वयवाद आदि उल्लेख्य हैं। बाद में चलकर लोक-जीवन की परम्परागत गाथाओं का वर्गीकरण

भी किया गया। अर्थ-कथा, काम-कथा, धर्म-कथा, दन्त-कथा, मनोरंजन-कथा तथा पौराणिक कथाओं की छायाएँ भी लोक-साहित्य के आयाम में प्रतिबिम्बित हुई हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य विचार धाराओं का सार यही है कि ये लोक-गाथाएँ (लीजेण्ड्स), परियों की कथाएँ (फेयरी टेल्स), दन्तकथाएँ तथा पौराणिक कथाएँ (मीथ्स) भी लोक-साहित्य के महत्त्वपूर्ण आधार स्वरूप हैं।

लोक-नाट्य के सन्दर्भ में रास, स्वांग, अनुकरण, नौटंकी, हाव-भाव एवं विभिन्न मुद्राएँ-भंगिमाएँ आदि विभिन्न शैलियाँ हैं। आडम्बरहीन रंगमंच, गद्य-पद्य-मिश्रित स्थानीय बोल-वचन एवं भाषाएँ तथा पात्रानुकूल वेश-भूषा अपने सीमित साधनों में प्रभावोत्पादक उपकरण स्वरूप हैं। उनकी सहज एवं अकृत्रिम प्रस्तुतीकरणों में ही सामान्य लोक-जीवन की संस्कृति स्पष्टतः झलक जाती है। इन्हें देख-सुनकर मन-प्राण पुलकित हो जाते हैं।

लोक-जीवन और लोक-संस्कृति एक प्रकार से किसी भी राष्ट्र की रीढ़ हैं। जो देश अपनी दृष्टि से इन्हें ओझल कर देगा, उपेक्षित कर देगा, उसका स्वरूप ही चरमरा जाएगा। सांस्कृतिक महत्ता के साथ-साथ इनका महत्त्व सामाजिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, नैतिक एवं सर्वोपरि साहित्यिक भी है।

किसी भी साहित्य का उत्स ग्राम-गीतों में ही परिव्याप्त है। भिन्न-भिन्न स्थानों के स्थानीय ग्राम-गीतों में संस्कार-गीत होते हैं, वे अलग-अलग अवसर के प्रसंगों पर आधृत होते हैं। ये लोक-गीत वस्तुतः सामान्य लोक-जीवन की संस्कृति के दिग्दर्शक होते हैं। इनमें न तो अनावश्यक कल्पना की उड़ानें होती हैं, न ही किसी प्रकार की दुर्बोध परिकल्पना का संस्पर्श। लोक-गीतों में वर्ष भर के परम्परागत

पर्व-त्योहार, चक्की और चरखे के गीत, ऋतु-सम्बन्धी चित्रण, फसलों, मेलों, जन्मोत्सव, छठ, चैती, होली, कोहबर, प्रभाती, गाली, सावनी, देवी-देवता, देवर-भाभी-ननद, हँसी-ठिठोली, जीजा-साली, दोंगा-गौना-जैसे अनेकानेक सन्दर्भों के स्वर स्वतः मुखर होते हैं, जो सीधे मन-मानस को प्रभावित कर देते हैं।

इन लोक-गीतों की बोलियाँ और भाषाएँ भिन्न हो सकती हैं, किन्तु इन सभी लोक-गीतों में मन-प्राणों की स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ मुखर होती रहती हैं। भोजपुरी, अवधी, मैथिली, अंगिका, बज्रिका, मगही, नगपुरिया, छत्तीसगढ़ी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, तेलगू, कन्नड़, बुन्देखण्डी आदि-आदि और भी कई भाषाओं में लोक-गीतों का भाव-सौष्टव ध्यातव्य हैं। न केवल गाँवों में, बल्कि शहरों में भी लोक-गीतों की अनुगूँज सर्वत्र प्रसृत है। सच तो यह है कि ये लोक-गीत सायास रचना की प्रयत्नीकृत प्रस्तुतियाँ नहीं, वरन् जनता

की बोली-भाषा में विरचित वैसी रचनाएँ हैं, जिनमें संस्कृति की गन्ध शब्द-शब्द में फैलती रहती है।

वर्तमान में मीडिया के बढ़ते प्रमाद एवं विज्ञान की नित नई-नई तकनीकें भले ही कृत्रिम शोर भरे संगीत को तरजीह दें, किन्तु अब भी स्थिति यह है कि लोक-गीतों की धुनों पर आज भी मन के मोर नाचते-झूमते हैं, क्योंकि उन गीतों में हृदय लिप्त है। रुझान अब भी ज्यों-की-त्यों बरकरार है। जब तक सृष्टि है और जब तक इस धरती पर मानव-समुदाय की अवस्थिति है, तब तक लोक-साहित्य जीवित रहेगा। अपने विभिन्न आयामों को समेटे ये लोक-गीत नैसर्गिक भाव-सम्पदा से सदैव समृद्ध रहेंगे। लोक-गीतों की जीवन्तता सबके मन-प्राणों को उसी प्रकार अनुप्राणित करती रहेगी।

एल०के०कालेज,
सीतामढ़ी-८४३ ३०२
(बिहार)



रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो वन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥

ओ मन! तुम्हें एक सलाह देता हूँ। वृन्दावन में गायों के झुण्ड चराते हुए नवीन जलधर के समान वर्णवाले उस व्यक्ति से कभी मित्रता न करना। अन्यथा सब ओर से सौन्दर्यामृत बरसाता हुआ वह अपनी मन्द मुसकानों से तुम्हें लुभाकर तुमको और तुम्हारे प्रिय विषय-भोगों को तुरन्त नष्ट कर डालेगा।

भारतीय स्वातन्त्र्य-समर की अप्रतिम वीरांगनाः दुर्गा भाभी

□ परमानन्द दोषी

जीवन-जगत् के प्रायः समस्त कार्य-कलापों में भारतीय महिलाओं का उल्लेखनीय अवदान रहा है। हमारा समाज, इसी वजह से अपनी महिलाओं को आदिशक्ति का जीवन्त प्रतीक मानता रहा है। माँ, भगिनी भार्या, सहचरी, दुहिता के विभिन्न रूपों में हमारी सन्नारियों की सार्थक भूमिका रही है। श्रेयस् सेवा-सुश्रूण, स्नेहपूर्ण साहचर्य-जैसे प्रियकर, संदर्भों में तो उनकी संलिप्तता रही ही है, जोखिम और जवाबदेहियों से भरे खतरनाक मोर्चे भी सफलतापूर्वक संभालते रहे हैं हमारे नारी-रत्न।

जिन दिनों हमारा भारत पराधीन था, उन दिनों उसकी स्वाधीनता के निमित्त छोड़े गए संघर्ष और संकटपूर्ण समर में भी हमारे देश की महिलाएँ किसी से पीछे नहीं रहीं। इस सन्दर्भ में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, उसकी सहचरी झलकारी बाई, गोंडवाना की महारानी दुर्गावती, रानी गिडालू, सरोजिनी नायडू, सुभद्रा कुमारी चौहान, माता कस्तूरबा, विजया लक्ष्मी पंडित, कमला नेहरू, अरुणा आसफअली, डा० उषा मेहता, मतांगिनी हाजरा, सुशीला दीदी, प्रीतिलता वद्देदार, कल्पना दत्त जोशी, तारा रानी श्रीवास्तव-सरीखें जैसे स्वर्णिम नाम हैं; जो हमारे इतिहास के रजत-पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अमिट लिखित हैं। स्वतन्त्रता-संग्राम में शिद्वत के साथ संघर्षरत इन्हीं दुर्धर्ष वीर-बहादुर महिलाओं की अग्रिम पंक्ति में एक और नाम दर्ज है अप्रतिम वीरांगना प्रातः स्मरणीया दुर्गा भाभी का दुर्भाग्यवश, जो जीवन भर उपेक्षित और विस्मृत रहीं।

इस्याती तन्तुओं से निर्मित इस फौलादी महिला की नितान्त ही उच्च कोटिवाली शौर्य-गाथा

न केवल तथाकथित कमजोर कही जानेवाली नारियों के प्रति प्रचलित हमारी द्वेष और पूर्वाग्रहपूर्ण पक्षपात से भरी भ्रांत धारणाओं को झुठलाती है, प्रत्युत स्त्रियों की साहसिकता, सहनशीलता, स्वदेश-भक्ति और सृजनशील सामर्थ्य की ऐसी अनूठी-अनोखी, अभूतपूर्ण, अतुलनीय, मिसाल हमारे समुख उपस्थित करती है, जिसके परिणामस्वरूप हम अपने समस्त महिला-समाज के प्रति ससम्मान श्रद्धावान् हो जाने पर विवश हो जाते हैं।

इस क्रान्तिकारी बहादुर महिला ने देश को स्वाधीन की जानेवाली संघर्षशील अवधि के दरम्यान सर्वाधिक महत्त्व के खतरों और जोखिम से भरे आश्चर्यजनक श्रेष्ठ कार्य तो सम्पन्न किए ही थे, स्वतन्त्रतोत्तर कालीन भारत में भी स्थायी महत्त्व के अपने रचनात्मक सत्कार्यों के माध्यम से देश के सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में अद्वितीय योगदान दिया था।

मानवता, लोकोपकारिता, सद्भावना, सदाशयता-जैसे सद्गुणों को आत्मसात् करके त्याग-तपश्चर्या के सहारे देश-दुनिया के लिए हितकर, शुभकर सत्कार्यों को सम्पन्न करनेवाली सन्नारियों के नामों के साथ 'माँ', 'भगिनी', 'दीदी', 'भाभी'-जैसे स्नेह से भरे आत्मीयतापूर्ण विशिष्ट विशेषण लगा उनके प्रति अतिरिक्त सम्मान प्रदर्शित करने का हमारा परम्परागत भारतीय संस्कार रहा है, जिसके तहत स्वामी रामकृष्ण परमहंस की विदुषी अर्धांगिनी को माँ शारदा, गांधीजी की भार्या को माता कस्तूरबा, पांडिचेरी स्थित अरविन्द आश्रम में योगिराज महर्षि अरविन्द की फ्रान्स से आयी अनुयायिनी को माँजी स्वामी विवेकानन्द की भारत

आई विदेशी शिष्या को भगिनी निवेदिता-जैसे विरुद्धों-विशेषणों के साथ आहूत किया जाता रहा है। उसी प्रकार दुर्गाजी उस प्रसिद्ध क्रान्तिदर्शी भगवती चरण बोहरा की धर्मपत्नी थी, जो अपने अन्य क्रान्तिकारी साथियों की अपेक्षा उम्र में सबसे बड़े थे इस कारण स्नेहवश भगत सिंह, राजगुरु, बटुकेश्वर दत्त, चन्द्रशेखर आजाद-सरीखे तमाम क्रान्तिकारी उन्हें 'भाभी' नाम से अभिहित करते थे और यही 'भाभी' शब्द उनके नाम का एक आविच्छिन्न अंश बन गया था।

जिनके प्रारम्भिक दिनों से लेकर अवसान की अन्तिम घड़ी तक का सारा जीवन घटना-बहुल रहा था, उन दुर्गाजी का जन्म ७ अक्टूबर १९०७ को इलाहाबाद के शाहजादपुर गाँव के एक सम्भ्रान्त और सम्पन्न परिवार में हुआ था। उन दिनों की प्रचलित प्रथा के अनुसार ग्यारह वर्ष की छोटी अवस्था में उनका विवाह लाहौर के एक प्रतिष्ठित बोहरा-परिवार में भगवती चरण बोहरा नामक युवक से कर दिया गया था। भगवती चरण दुर्गाजी से चार वर्ष बड़े थे। भगवती चरणजी का परिवार बड़ा ही प्रतिष्ठित था और उनके पिता को राय साहब की पदवी मिली हुई थी। जब शादी पक्की ही हुई थी कि दुर्गाजी के परिवार को यह ज्ञात हुआ कि भावी जामाता सुराजी और क्रान्तिकारी ख्याल का है और इस कारण शादी के टूटने की बात चलने लगी थी, मगर बालिका दुर्गा पर अपने होनेवाले पति के मन-मिजाज का कोई असर नहीं हुआ और दुर्गाजी तथा भगवती चरण वैवाहिक सूत्र में जा बँधे थे। भगवती चरण ने सन् १९२१ ई० में लाहौर के एफ० सी० कॉलेज से साइंस की इन्टरमीडियट परीक्षा पास की थी लेकिन असहयोग आन्दोलन के प्रभाव में आकर उन्होंने अपनी पढ़ाई छोड़ दी। बाद में जब लाला लाजपत राय ने नेशनल कालेज की स्थापना की तब सन् १९२३ ई० में वहीं से

उन्होंने बी०ए० किया। दुर्गा भाभी ने भी प्रभाकर की परीक्षा उत्तीर्ण की थी।

अपने पति के साहचर्य में रहने से बड़ी ही स्वल्प अवधि में दुर्गाजी ने पति की क्रान्तिकारी भावनाओं को भली-भाँति समझ लिया। देश पर विदेशी आधिपत्य उन्हें भी बड़ा नागवार लगने लगा था। वे स्वयं अपने पति और उनके सहयोगी-साथियों के साथ तालमेल बैठाकर क्रान्ति-कर्म में सक्रिय होना चाहती थी, मगर उन दिनों हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी-जैसे क्रान्तिकारी दलों में किसी महिला की प्रविष्टि का प्रावधान नहीं था। इस कारण वे ऐसे किसी दल की सदस्यता हासिल करने में समर्थ नहीं हो सकीं। फिर भी दूसरे तरीके से क्रान्ति की ज्वाला में आहुतियाँ देने के किसी अवसर को भी उन्होंने हाथ से जाने नहीं दिया।

भगवती चरण बोहरा स्वयं सम्पन्न परिवार के थे और दुर्गाजी को भी मायके से प्रचुर धन मिला था; अतएव क्रान्तिकारियों को इस परिवार से यथेष्ट आर्थिक साहाय्य प्राप्त हुआ करता था। क्रान्तिकारियों को योजना बनाने के स्थल और लुका-छिपी की घड़ियों में सुरक्षित रहने के लिए दुर्गाजी का निवासस्थान सबसे निरापद और उपयुक्त था।

भगवती चरण बोहरा को ही नहीं उनके सभी क्रान्तिकारी साथियों को दुर्गाजी से काफी सहयोग मिल पाता था, जिसके कारण सभी क्रान्तिकर्म को निश्चिन्तता के साथ आगे बढ़ाने में सक्षम-सफल थे।

क्रान्तिकारी आन्दोलन में दुर्गा भाभी की वीरतापूर्ण साझेदारी की लम्बी कथा में से दृष्टांत के रूप में कुछ की चर्चा करना नितान्त ही समीचीन प्रतीत होता है। सन् १९२८ ई० में जब भगत

सिंह और राजगुरु ने लाहौर में पंजाबकेसरी लाला लाजपत राय पर लाठी चलाकर मार देनेवाले अंगरेज पुलिस अफसर साउन्डस को गोली मारकर हत्याकर दी थी और लाहौर पुलिस उन दोनों क्रान्तिकारियों को पकड़ने के लिए एंडी-चोटी का पसीना एक कियु हुयु थी, तब दुर्गा भाभी ने ही उन्हें अपने तीन वर्ष के बेटे शचीन को गोद में लियु अपनी आड़ में पुलिस की नजरों से बचाकर लाहौर से सुरक्षित निकालकर कलकत्ता पहुँचा दिया था। सन् १९३०ई० में भगवती चरण बोहरा रावी तट पर एक बम-परीक्षण करते समय शहीद हो गए थे, तब दुर्गाभाभी ने असीम धैर्य के साथ उस दारुण दंश को झेल लिया था। उन्होंने अन्य क्रान्तिकारियों का आवाहन किया था कि वे उनके पति की मौत से मर्माहत और विचलित हुयु बिना क्रान्तिमूलक कार्यों को जारी रखें।

भगवती चरण बोहरा की मृत्यु के पश्चात् क्रान्तिकारियों की जब बड़ी गहराई से धर-पकड़ शुरू हुई थी, तब दुर्गा भाभी को भी गिरफ्तार किया गया और वर्षों तक उन्हें नजरबन्द रखा गया।

जेल से जब उनको मुक्ति मिली तब वे पंजाब में पदस्थापित आततायी पुलिस अफसर मिस्टर हेली की जान के पीछे हाथ धोकर पड़ गईं। मिस्टर हेली तब तक स्थानान्तरित होकर बम्बई जा चुके थे। दुर्गा भाभी ने स्वयं पुलिस वेष धारण कर हाथों में पिस्तौल लेकर पृथ्वी सिंह-जैसे अपने कई विश्वस्त साथियों के साथ बम्बई के लैमिंगटन रोड पर जा रहे मिस्टर हेली पर गोलियाँ दागीं। संयोगवश मिस्टर हेली बच गए और दुर्गा भाभी वहाँ से सुरक्षित भाग निकलीं। सन्देह के आधार पर उन्हें गिरफ्तार तो किया गया, मगर अरोसेमन्द साक्ष्य के अभाव में उन्हें कारामुक्त कर दिया गया। उन्हीं दिनों उन्होंने महात्मा गांधी

से उनके आश्रम में जाकर मुलाकात की और भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु जिनके लियु फाँसी की सजा घोषित की जा चुकी थी, उनकी प्राण-रक्षा के लियु गांधीजी से अपील की, मगर गांधीजी उनके प्रस्ताव से सहमत नहीं हो सके।

दुर्गा भाभी को सन् १९३७ में दिल्ली कांग्रेस की अध्यक्ष भी बनाया गया, मगर थोड़े ही दिनों में उन्होंने पद-त्याग कर दिया। सन् १९३६ में ही वे गाजियाबाद आ चुकी थीं और वहीं के एक कन्या विद्यालय में अध्यापिका बन गईं थीं। बाद में उन्होंने मद्रास जाकर शिक्षण के लियु प्रशिक्षण प्राप्त किया और लखनऊ में साक्षरता विद्यालय की स्थापना करके वर्षों तक उसके संचालन में सक्रिय रहीं।

गाजियाबाद के राजनगर सेक्टर-२ में वास करते हुयु वे शिक्षा और समाज-सेवा के अनेक महत्वपूर्ण कार्य करती रहीं। स्वतन्त्रता-सेनानी होने के उपलक्ष्य में उन्हें ताम्र-पत्र से नवाजा गया और केन्द्रीय सरकार के साथ-साथ उत्तरप्रदेश तथा पंजाब की राज्य सरकारों द्वारा उन्हें ढेर सारी प्रशस्तियाँ प्रदान की गईं। स्वाभिमानीनी वे ऐसी थीं कि एक बार जब पंजाब के तत्कालीन मुख्य मन्त्री सरदार दरबार सिंह ने दुर्गा भाभी का सम्मान करते हुयु सरकार की ओर से इक्यावन हजार रुपये की थैली भेंट की तब उन्होंने वह राशि लौटाते हुयु कहा था कि इसे शहीदों की कीर्ति-रक्षा में खर्च किया जाय।

दुर्गा भाभी एक साहसी, खुद्दार और तेजस्विनी महिला थीं। उनकी जैसी दृढ़ चारित्रिक विशेषता रखनेवाली बहुत थोड़ी-सी महिलाएँ हमारे देश में उत्पन्न हुई हैं। देश की बलिबेदी पर भरी जवानी में अपना सुहाग समर्पित करनेवाली, आजीवन देश की स्थिति के सुधार के सपने देखनेवाली अपने बानवे वर्ष के लम्बे जीवन में सदैव बेदाग बनी रहनेवाली विगत १४ अक्तूबर

१९६६ को अपने को मौत के हवाले कर हमारे लिए सेवा-समर्पण और देशप्रेम का बिरल उदाहरण छोड़ गई हैं।

अपने नामानुरूप दुर्गा भाभी साक्षात् दुर्गा भवानी-जैसी थीं। साहस-पराक्रम में उनका कोई जोड़ नहीं था। स्वाभिमानिनी और स्पष्टवादिनी भी वे वैसी ही थीं। उनके संकल्पों-सिद्धान्तों से उन्हें डिगा पाना असम्भव था। अपने स्वीकृत उसूलों से किसी प्रकार का समझौता उन्हें अस्वीकार्य था। धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभनों से वे कोसों दूर थीं। उनहोंने शहीद पति तथा उनके क्रान्तिकारी साथियों और देशी-विदेशी अनेक राजनीतिक पण्डितों द्वारा सोचे-विचारे गए जिस आदर्शात्मक कल्याणकारी स्वतन्त्र देश के स्वरूप निर्धारण का जो स्वर्णिम स्वप्न देखा गया था, स्वतन्त्र भारत में उनके प्रति घोर अवहेलना उपेक्षा देख भाभीजी का मन-मस्तिष्क व्यथित रहता था। घोर घुटन और नितान्त निराशा के आलम में जी तो वे अवश्य रही थीं, मगर यह जिन्दगी उन्हें रास नहीं आ रही थी।

एक ही बड़ा ही नेक काम सम्पन्न करना उन्हें बाकी रह गया था। वे देश के क्रान्तिकारी इतिहास की रचना में सक्रिय थीं। अपने संघर्ष के सहयात्रियों और उनसे सम्बद्ध घटनाओं का वे बेबाक संस्मरण आगे आनेवाली पीढ़ी के लिए लिख छोड़ना चाहती थीं। अपने से लिये गए साक्षात्कारों और पत्र-पत्रिकाओं में छिटफुट अपने आलेखों के जरिये वे इस काम को आंशिक रूप से सम्पादित अवश्य कर कही थीं और इतिहास संस्मरण लेखन में उनका एकमात्र पुत्र शचीन सक्रिय सहयोग भी दे रहे थे, मगर वार्धक्य, स्मृति और दृष्टिदोष के साथ-साथ कार्य में अक्षम इन्द्रियों-अवयवों के कारण प्रगति में अवरोध उत्पन्न हो रहे थे। फिर भी अपने अधूरे-अशेष कार्यों को अपने पत्र व अन्य सहयोगियों

के भरोसे पर छोड़ अन्ततः स्वर्ग सिधार गईं।

हालांकि उनका निधन स्वाभाविक रूप से वार्धक्य के कारण हुआ, फिर भी उनकी मौत को शहातद कहना ज्यादा समीचीन होगा। कृतज्ञ राष्ट्र को दुर्गाजी की सेवाओं, उनके द्वारा आजादी के लिए झेली गई अमानवीय यातनाएँ और स्वतन्त्र भारत में उनके द्वारा किये गए ऐतिहासिक मूल्य-महत्त्व के रचनात्मक कार्यों के लिए उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया को जितना सम्माननीय, सार्थक, सजीव बनाया जाना चाहिये था, वैसा न तो केन्द्रीय और न ही राज्य सरकारें कर सकीं।

हिण्डन नदी पर सजाई गई उनकी चिता पर एक अदने से अधिकारी ने श्रद्धा-सुमन अर्पित कर मात्र रस्म अदायगी भर की थी जिसकी आलोचना और भर्त्सना सारे देश के लोगों ने की। मत मिले उनको सरकारी समर्थन, मगर उनकी शवयात्रा में हजारों नागरिक भारी संख्या में सम्मिलित हो उनके संघर्ष पूर्ण साहसिक अमृतमय जीवन की अहमियत को सार्थक किया। देश के कोने-कोने में उनके देहावसान का दुःखद-दारुण समाचार जब फैला, तब लाखों देशवासियों ने उनके सम्मान में श्रद्धांजलि-शोक सभाएँ आयोजित कर उनके व्यक्तित्व-कृतित्व के अनुरूप उन्हें भाव-भीनी अश्रुपूर्ण श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।

दुर्गा भाभी की मात्र नवश्वर काया का ही क्षरण हो सका है, उनकी यशःकाया अजर और अमर रहेगी और आनेवाले ढेर सारे दिनों तक लोगों को यह अहसास होता रहेगा कि त्याग, तपस्या, राष्ट्र-प्रेम और देशभक्ति में भारतीय ललनाएँ किसी से पीछे नहीं रही हैं।

विशेष पदाधिकारी,
बिहार राज्य स० भूमि विकास बैंक,
बुद्धमार्ग, पटना-१



पाठकीय प्रतिक्रिया

धर्मायण का साठवाँ अंक प्राप्त हुआ। सम्पादकीय लेख में “स वाच्यो भगवानिति” का गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। भग के छह अर्थ होते हैं— (१) समग्र ऐश्वर्य, (२) धर्म, (३) कीर्ति, (४) श्री, (५) ज्ञान एवं (६) वाराग्य। भगवान् इन सारे गुणों से सदा सम्पन्न रहते हैं। अनेक प्रमाणों के आधार पर उन्हें सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञाता और सर्वाक्तिमान् सिद्ध किया गया है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदीजी का नया धारावाहिक लेख “जै जै सियाराम” भागवतकथा की तरह ही काफी प्रशंसनीय होगा। आचार्य की अनूठी शैली वर्तमान एवं अतीत का समन्वय स्थापित कर रही है। सरजू जी और अनुध्याजी का वर्णन काफी मनोहर है।

आलोच्य अंक के अनेक लेख स्तरीय एवं शोधात्मक हैं। जहाँ संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति आचार्य कुणालजी ने अनेक प्रमाणों एवं प्रसंगों के आधार पर पशुबलि की निन्दा की है, वहीं प्रो० सिंहजी ने प्रार्थना के स्वरूप और महत्त्व पर काफी प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं, श्री परमानन्द दोषी ने स्वतन्त्रता-संग्राम के पुरोधे के रूप में महर्षि दयानन्द के सार्वभौम व्यक्तित्व पर नूतन लेख प्रस्तुत किया है। इसीप्रकार जहाँ डा० रामविलास चौधरी सुख प्राप्ति के लिए धन को आवश्यक मानते हैं, (लेकिन धर्मपूर्वक ही वह धन अर्जित किया गया हो), वहीं पूर्वकुलपति डा०

एस०युन०पी० सिन्हाजी परमशान्ति का मूलमन्त्र गीतावाक्य “सर्वभूतहिते रताः” या परोपकार को ही मानते हैं। आपने गांधीजी एवं मदर टेरेसा का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है। आपके अनुभव का दास्तान सुन्दर है। इसी क्रम में, प्रसूनजी की ‘रासपंचाध्यायी, प्रेमा तिवारी का ‘उष धर्मः सनातनः’ और पाण्डेय के ‘संसार वृक्ष की अवधारणा’-जैसे लेख प्रामाणिक एवं संग्रहणीय लग रहे हैं। अन्त में, सम्पादक मण्डल को कोटिशः साधुवाद। सभी अनार्थों की रक्षा करनेवाले एवं हृदय से भय को भगानेवाले महावीरजी से हमारी यह प्रार्थना है—

अत्यन्तोदारभावः कपिवरसुभगः श्रद्धया पूज्यते यः,
साधकैः भक्तवर्धैः सततजपकरैः गूढतत्त्वैकविज्ञैः।
आराध्यं विष्णुरूपं दशरथतनयं सर्वदासः प्रपन्नः,
पायात् सर्वाननाथान् निखिलभयहरः वायुपुत्रो वरेण्यः॥

डा० राजेन्द्र झा,

गोपेश्वर कालेज, हथुआ (बिहार)

मैं सर्वोत्कृष्ट एवं धार्मिक, सांस्कृतिक राष्ट्रीय पत्रिका धर्मायण का नियमित पाठक रहा हूँ। अकेले मैं ही नहीं मेरे परिवार के सभी सदस्यों के साथ-साथ अपने परिवेश के लोगों को भी अपनी खरीदी प्रति को पढ़वाता रहा हूँ। सभी पाठक एक स्वर में इसकी सराहना करते हैं।

इसके अंक ६०वाँ (जनवरी-मार्च २००३)

के भी मैं आघोपान्त पढ़ चुका हूँ। सदैव की भाँति इसके वर्तमान अंक ने भी मुझे काफी प्रभावित किया है। इसके प्रायः सभी लेखक तो आपके वही पहलेवाले ही हैं मगर उनकी नई-नई रचनाओं ने इस अंक को बड़ा ही सार्थक और सजीव बना दिया है। खासकर आचार्य किशोर कुणाल, डा० एस०एन०पी० सिन्हा, डा० श्री रंजन सूरिदेव और श्री परमानन्द दोषी जी की रचनाओं का क्या कहना? सभी रचनाएँ उच्चस्तरीय और श्रेष्ठ साहित्य मूल्यों से सम्पन्न हैं।

मार्कण्डेय जी की 'गुरु दक्षिणा' शीर्षकवाली एकांकी भी काफी अच्छी बन पड़ी है।

धर्मायण को मासिक आवर्तिता के साथ छापा जाय मेरे इस पुराने प्रस्ताव को यदि कार्यरूप दिया जा सके तो बड़ा ही श्रेयस्कर रहेगा।

जगदीश झा,
अध्यक्ष शिक्षा समिति,
रा०म०वि० झखड़ा,
(समस्ती पुर)



व्रत-त्योहार

अप्रैल से जून तक	दिन	दिनांक
अमावस्या	मंगलवार	०१-०४-२००३
वैक्रम नववर्षारम्भ, वासन्ती नवरात्र प्रारम्भ	बुधवार	०२-०४-२००३
वैनायकी गणेशचतुर्थी व्रत	शनिवार	०५-०४-२००३
सूर्य षष्ठी व्रत	मंगलवार	०८-०४-२००३
महानिशा पूजा	बुधवार	०९-०४-२००३
रामनवमी (सबकी)	शुक्रवार	११-०४-२००३
कामदा एकादशी (सबकी)	रविवार	१३-०४-२००३
श्रीमहावीर-जयन्ती	मंगलवार	१५-०४-२००३
स्नान, दान, व्रत आदि की चौती पूर्णिमा	बुधवार	१६-०४-२००३
संकष्टी गणेश चतुर्थी व्रत	शनिवार	१९-०४-२००३
वल्लभिनी एकादशी (सबकी), वल्लभआचार्य जयन्ती	रविवार	२०-०४-२००३
मास शिवरात्रि व्रत	मंगलवार	२२-०४-२००३
अमावस्या	बृहस्पतिवार	१ मई, २००३
छत्रपति शिवाजी-जयन्ती	शनिवार	०३-०५-२००३
परशुराम जयन्ती	रविवार	०४-०५-२००३
वैनायकी गणेश चतुर्थी व्रत	सोमवार	०५-०५-२००३
आद्य शंकराचार्य-जयन्ती	मंगलवार	०६-०५-२००३
श्री रामानुजाचार्य-जयन्ती	बुधवार	०७-०५-२००३
गंगासप्तमी, गंगोत्पत्ति	बृहस्पतिवार	०८-०५-२००३
श्री जानकी-जयन्ती, सीतानवमी	शनिवार	१०-०५-२००३
मोहिनी एकादशी (सबकी)	सोमवार	१२-०५-२००३
व्रत की पूर्णिमा	बृहस्पतिवार	१५-०५-२००३
वैशाखी पूर्णिमा, बुद्धपूर्णिमा	शुक्रवार	१६-०५-२००३
संकष्टी गणेश चतुर्थी व्रत	सोमवार	१९-०५-२००३
त्रिदिवसीय वटसावित्री व्रतारम्भ	बुधवार	२०-०५-२००३
मास शिवरात्रि व्रत, वटसावित्री व्रत (द्वितीय दिन)	बृहस्पतिवार	२२-०५-२००३
अमावस्या, वटसावित्री व्रत	शुक्रवार	३०-०५-२००३
रम्भा तृतीया, महाराणा प्रताप-जयन्ती	मंगलवार	३ जून, २००३
वैनायकी गणेशचतुर्थी व्रत	बुधवार	०४-०६-२००३
गंगादशहरा, श्री रामेश्वर प्रतिष्ठादिवस	सोमवार	०९-०६-२००३
निर्जला (भीमसेनी) एकादशी (स्मार्तो की)	मंगलवार	१०-०६-२००३
निर्जला एकादशी (वैष्णवों की)	बुधवार	११-०६-२००३
त्रिदिवसीय सावित्री प्रारम्भ	बृहस्पतिवार	१२-०६-२००३
व्रत की पूर्णिमा, वट सावित्री-द्वितीय दिन	शुक्रवार	१३-०६-२००३
स्नान, दान, व्रत आदि की पूर्णिमा, वटसावित्री व्रत	शनिवार	१४-०६-२००३
गणेश संकष्टी व्रत	मंगलवार	१७-०६-२००३
योगिनी एकादशी (सबकी)	बुधवार	२५-०६-२००३
अमावस्या	रविवार	२९-०६-२००३



महावीर मन्दिर, पटना महावीरो हनुमान् विजयतेतराम्



महावीर मन्दिर में तिरुपति लड्डू-नैवेद्यम् की आशातीत सफलता के बाद आज से जगन्नाथपुरी के सूपकारों द्वारा निर्मित प्रसाद

कैवल्यम्

(भात, दाल, सब्जी, खीर आदि का प्रसाद) सुलभ कराया जा रहा है। यह शुद्ध, सात्त्विक एवं पवित्र आहार है। महावीर मन्दिर में प्रारम्भ से ही 11 वजे दिन में भगवान् को जो भोग लगता रहा है, वह चावल, दाल, सब्जी आदि का ही भोग रहा है। उसे ही अब जगन्नाथपुरी के रसोइयों द्वारा वाष्प-प्रक्रिया से परिष्कृत कर वितरित करने की योजना है। नैवेद्यम् भक्तों द्वारा भगवान् को भोग के लिए अर्पित किया जाता है; जबकि कैवल्यम् वह प्रसाद है जो भगवान् द्वारा ग्रहण किया जा चुका है जिसका उपभोग भक्त करेंगे।

महावीर मन्दिर के अग्नि-कोण (यानी दक्षिण-पूर्व) में स्थित विक्रय-गवाक्ष से कैवल्यम् प्रतिदिन 11.30 वजे से 3.00 वजे तक तथा रात्रि में 8.15 से 10.15 वजे तक उपलब्ध होगा। छेना-खीर सहित अन्न-भोग बन्द डिब्बे में मात्र 25 रु0 में मिलेगा। मन्दिर की ओर से फलाहार के लिए 'क्षीरम्' (दूध और छेने की खीर) का भी प्रवन्ध 15 रु0 में किया जा रहा है।

महावीर मन्दिर की स्थापना कब हुई, यह किसी की स्मृति के परे काल से है; किन्तु अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सन् 1900 ई0 में तत्कालीन महंत अलखिया वावा ने "सिटी म्यूनिसिप्लेटी" से मन्दिर के चारों ओर चहारदीवारी खींचने की अनुमति प्राप्त की थी तथा तदनन्तर ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी ने महावीर मन्दिर के विकास के लिए उन्हें अतिरिक्त भूखण्ड दिया था। ये सभी तथ्य सन् 1948 ई0 में पारित माननीय पटना उच्च न्यायालय के उस निर्णय में उल्लिखित हैं जिसमें इस मन्दिर को सार्वजनिक घोषित किया गया था। इस मन्दिर का नवनिर्माण 1983 से मार्च 1985 के बीच अनेक गणमान्य व्यक्तियों की संस्था श्री महावीर स्थान विकास समिति ने किया। वर्तमान न्यास समिति का गठन 20 अक्टूबर, 1987 ई0 को विहार राज्य धार्मिक न्यास पर्षद् की अधिसूचना के आधार पर हुआ था। उस समय मन्दिर के नाम कोई चल या अचल सम्पत्ति नहीं थी और मन्दिर का मासिक चढ़ावा एक हजार रुपये से भी कम दिखलाया जाता था; जबकि सम्प्रति मन्दिर की आय दस लाख रुपये महीने से अधिक है और मन्दिर न्यास के नाम दस करोड़ से अधिक की चल-अचल सम्पत्ति है।

वर्तमान वित्तीय वर्ष में मन्दिर न्यास का वजट 12,20,56,600 (बारह करोड़ बीस लाख छप्पन हजार छह सौ) रुपये का है, जो प्रसिद्ध देवघर मन्दिर के वजट से 20 गुणा अधिक है। रामनवमी के दिन 5216 किलो नैवेद्यम् के विक्रय ने नया कीर्तिमान स्थापित किया है। महावीर मन्दिर परिसर में ज्योतिष-कार्यालय, धार्मिक पुस्तकों एवं राशि-रत्नों के भी समृद्ध विक्रय केन्द्र हैं जहाँ प्रामाणिक सामग्रियाँ समुचित मूल्यों पर उपलब्ध हैं।

कंकड़वाग में "महावीर आरोग्य संस्थान" एवं फुलवारी में "महावीर कैंसर संस्थान" की स्थापना के बाद मन्दिर न्यास अब "महावीर वात्सल्य अस्पताल" की स्थापना के लिए प्रयत्नरत है और आशा की जाती है कि गर्भाधान से किशोरावस्था तक बालकों के सर्वांगीण उपाचार की व्यवस्था यहाँ अगले वर्ष अवश्य हो जायेगी। इस प्रकार श्री महावीर स्थान न्यास समिति मन्दिरों के न्यास-प्रवन्धन के इतिहास में स्वर्णिम अध्याय की रचना में सदैव कृतसंकल्प है।

न्यायमूर्ति प्रेम शंकर सहाय (अ0प्रा0)

अध्यक्ष

आचार्य किशोर कुणाल

सचिव



[वेदवाणी]

[सविता सूर्य का ही एक विशेष रूप है। ऋग्वेद में उन्हें बौद्धिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, एवं सामाजिक कार्यों का प्रेरक बताया गया है। प्रस्तुत हैं 'सवितृसूक्त की पाँच ऋचाएँ जो ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 3५वें सूक्त से ली गई हैं'। सं.]

ह्याम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्यामि मित्रावरुणाविहावसे।
ह्यामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्यामि देवं सवितारमूतये॥१॥

प्रथम निमन्त्रित अग्निदेवता को मैं करता, आकर मेरा सब प्रकार कल्याण करें नित।
पुनः बुलाता मित्र, वरुण रजनी सविता को सभी पधारें और करें निज कृपा-सुरक्षित॥

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥२॥

करते हुए निरीक्षण निज नयनों से जग का स्वर्णरचित स्यन्दन पर बैठे सविता आए।
सदा तमोमय नमोमार्ग से हैं आते आकर देव-मनुज को योग्य स्थान दिलाए॥

याति देवः प्रवता यात्युद्धता याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्।
आ देवो याति सविता परावतोऽप विश्वा दुरिता बाधमानः॥३॥

दूर देश से आलोकित सविता आते हैं, सब पापों को दूर भगा देते हैं आकर।
ऊर्ध्व-निम्न मार्गों पर दिव्य हयों से वाहित, इनका सुन्दरतम रथ है गतिमान निरन्तर॥

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशाम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधनः॥४॥

प्रसृत तमस् को देख पूज्य तेजोधन सविता, सर्वलोक को आलोकित करने को आए।
कनककील से युक्त भव्य रथ पर संस्थित हो, नाना किरणों को चलते हैं स्वयं बिछाए॥

वि जनाञ्छयावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः।
शश्वद्विशः सवितुर्देव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः॥५॥

काले-काले घोड़े उजली टाँगोंवाले, सोनामढ़े जुग को कन्धे पर हैं धारे।
खींच रहे हैं स्वर्णशकट जग को प्रकाश दे, अब तो लगता जन सविता के लोक पधारें॥

